Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2395-0390**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48402 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.21

Varanasi Management Review

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor in Chief
Dr. Alok Kumar
Associate Professor & Dean (R&D)
School of Management Sciences
Varanasi

Volume - XI **No. - 2** **(April - June) 2025**

(Part – III)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Varanasi Management Review - ***A Multidisciplinary Quarterly International Referred Research Journal****, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- vnsmgrev@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Varanasi Management Review" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2395-0390

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** School of Plant Sciences, Haramaya University, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr. Saumya Singh,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Mrinalini Pandey,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Aditya Kumar Gupta,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Abhishek Sharma,** Assistant Professor, Department of Hindi, Ravenshaw University, Cuttack
- **Dr. A. Shanker Prakash,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Nagendra Kumar Singh,** Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi

- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Varanasi Management Review,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Varanasi Management Review"

➲	अष्टांगिक मार्ग : योग दर्शन ***डॉ. प्रदीप कुमार पाण्डेय***	01-05
➲	भारतीय बौद्ध कला : बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में ***डॉ. दिलीप कुमार सिंह*** ***डॉ. राजेश कुमार सिंह***	06-09
➲	प्राचीन भारतीय अभिलेख और वैष्णव धर्म ***अंकेश कुमार वर्मा***	10-12
➲	विनयपिटक में वर्णित कला–तत्व ***तारा शर्मा*** ***प्रो. बीरेंद्र कुमार***	13-15
➲	माध्यमिक विद्यालय के बच्चों में उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थितियों का उनकी शैक्षणिक उपलब्धि पर प्रभावः एक अध्ययन ***अज़ीमा खुशनूदी*** ***मो. नसीम खान***	16-19
➲	उरांव समाज में जतरा –लोकसंस्कृति, स्वदेशी ज्ञान प्रणाली और पर्यावरणीय चेतना ***आरती*** ***डॉ. शिल्पी गुप्ता***	20-25
➲	ग्रामीण संस्कृति पर वैश्वीकरण का प्रभाव ***रवि प्रकाश सिंह***	26-29
➲	देवरिया जनपद में जनसंख्या घनत्व का क्षेत्रीय वितरण प्रतिरूप ***सुजाता मल्ल***	30-33
➲	मीरजापुर क्षेत्र की धार्मिक परम्परा ***प्रभाश दूबे***	34-35
➲	उपभोक्तावादी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव : एक अध्ययन ***आरती कुमारी***	36-38
➲	मीडिया परिवार और मित्रता के लिये चुनौतियाँ ***आनंद प्रकाश***	39-42
➲	ग्रामीण विकास में कृषि विपणन की भूमिकाः रोहतास जिले के किसानों की समस्याओं का विश्लेषण ***राजेन्द्र प्रसाद*** ***डॉ. शशि भूषण राय***	43-46
➲	घरेलू हिंसा का बच्चों के बौद्धिक विकास पर प्रभावः एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन ***डॉ. सोनी कुमारी***	47-50

➲	भाषा–उत्पत्ति के सिद्धांत ***डॉ. श्रीकान्त यादव***	51-57
➲	छात्रों के समग्र विकास में शिक्षक की भूमिका एवं चुनौतियां : राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) से सन्दर्भित ***डॉ. राजेन्द्र कुमार जायसवाल***	58-61
➲	राजनीतिक गठबंधन सरकार के पक्ष एवं विपक्ष का सरकारी तंत्र पर प्रभाव ***डॉ. राजमणि कुमारी***	62-67
➲	यहूदी धर्म में ईश्वर की अवधारणा : एक दार्शनिक अध्ययन ***अमित कुमार***	68-70

☙❧

अष्टांगिक मार्ग : योग दर्शन

डॉ. प्रदीप कुमार पाण्डेय*

योगदर्शन भारतीय दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है। योग युज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है मिलना। अतः योग का अर्थ मिलन है। जिन क्रियाओं द्धारा मनुष्य ईश्वर से मिल पाता है, उसे योग कहते हैं। लेकिन योग दर्शन में योग का एक विशेष अर्थ है। इस दर्शन के अनुसार चितवृतियों के निरोध को योग कहा जाता है। चितवृतियॉ बतलायी गयी है- प्रमा8

ण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। इन वृतियों को अवरूद करना ही चितवृतियों का निरोध है। यह निरोध पॉच प्रकार की चितभूमियॅा में होता है। क्षिप्त, मुढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्व ये चितभूमियॉ है। योग के लिए एकाग्र और निरूद्व चितभूमियॉ आवश्यक हैं । अतः योग का सम्बन्ध चितवृतिनयो को चितभूमियो में आने से रोकना है। इसके लिए अभ्यास- वैराग्य, कियायोग और अष्टांगिक योग को अपनाने का परामर्श दिया जाता है। योगदर्शन भी सांख्यादर्शन की तरह मनुष्य को त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार मानता है। इसलिए मनुष्य की तीन श्रेणियॉ बतलायी गी है। - उतम, मध्यम, अधम। अभ्यास, वैराग्य र्माग उत्तम मनुष्य के लिए है, मध्यम मनुष्य के लिए क्रियायोग है और अधम या सधारण मनुष्य के लिए अष्टांगिक योग या प्रयोग का मार्ग है। पतंजलि ने अपने ग्रंथ योगसूत्र में कहा है कि चितवृनियो का निरोध तबतक नही हो सकता , जबतक अष्टांगिक योग को नहीं अपनाया जाय। अंष्टागिक योग पश्चात साधरण मनुष्य भी क्रमशः क्रियाायोग और अभ्यास- वैराग्य को अपना सकता है।

अष्टांगिक योग को अष्टागिक मार्ग भी कहा जाता है, क्योकि योग के आठ उपाया या मार्ग बतलाये गये है। इनमें पॉच उपाय को बहिंरग साधन और शेष तिन उपायों को अंतरंन साधन कहा जाता है। बहिरंग साधन में भी आराम्भ के दो साधनों को नैतिक तैयारियॉ कही गई है। बहिरंग साधन है-यम, नियम, आसन प्राणयांम और प्रत्याहार। अंनतरंग साधन है। धारण, ध्यान, समाधि। ये सभी व्यावहारिक है, इसलिए अष्टांगिक योग को व्यावहारिक मार्ग कहा जाता है। वस्तुतः अंष्टागिक योग मानव- जीवन के क्रियापक्ष से जुडा हुआ है।

पतंजलि ने योग को 'चित्त-वृत्ति-निरोध' कहा है। व्यास ने समाधि को योग कहा है। समाधि चित्त का सामान्य धर्म है। अभ्यास और वैराग्य से सभी योग की सिद्धि कर सकते हैं।

चित्तभूमियाँ

व्यास ने चित्त की पाँच भुमियाँ बतायी हैं- (१) क्षिप्त-भूमि, (२) मूढ-भूमि ३) विक्षिप्त-भूमि (४) एकाग्र-भूमि और (५) निरुद्ध-भूमि । (१) क्षिप्त चित्त रजस् से अभिभूत होता है और इसलिए अत्यन्त चंचल और बहिर्मुख होकर लगातार एक वस्तु दुसरी वस्तु में जाता रहता है जो कि सुखदुःख का कारण है। (२) मुढ-चित्त तमस् मे होता है और क्रोध इत्यादि तीव्र भावों के प्रभाव से पाप कर्म में लगा रहता है। ऐसा चित्त धर्माधर्म का विवेक नहीं रखता। तमस् के प्रभाव से यह अनवधान, तन्द्रा और निद्रा में आक्रान्त बना रहता है। उसमें एकाग्रता नहीं रहती। (३) विक्षिप्त चित्त सत्य के प्रभाव के कारण अधि चंचल रहते हुए भी कभी-कभी स्थिर हो जाता है और दुःखप्रद वस्तुओं से हटकर ये तीन चित्त-भूमियाँ समाधि के लिए अनुकूल नहीं होती। सुखप्रद वस्तुओं में केन्द्रित हो जाता है। उसका चांचल्य या तो स्वाभाविक होता है या शारीरिक और मानशिक विक्षेपों के कारण होता है। (४) एकाग्र चित्त शुद्ध सत्त्व के प्रभाव से सभी वस्तुओं से हटकर एक स्थूल या सूक्ष्म वस्तु पर केंन्द्रि रहता है और उसकी वृत्ति निबार्द होती है। इस भूमि में चित्त पूर्णतया अन्तर्मुखी हो जाता है। (५) निरुद्ध चित्त

---

* वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, दर्शन विभाग, रामविलास गंगाराम महाविद्यालय, महाराजगज, सीवान।

में शुद्ध सत्त्व के प्रभाव से सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और केवल संस्कार ही शेष रहते हैं। यह वाचस्पति का मत है। विज्ञानभिक्षु भी ऐसा ही मानता है। लेकिन भोजदेव का मत यह है कि निरुद्धचित्त में सभी वृत्तियों और संस्कारों का निरोध हो जाता है। योगं यानी चित्तवृत्तियों का निरोध अन्तिम दो भूमियों में ही सम्भव है। चित्तवृत्तिया सुख, दुःख और मोह के कारण हैं। इसलिए उनका निरोध आवश्यक है। योग दर्शन शरीर, प्राण और मनस् के संयम से तथा यम और नियमों के अभ्यास से सारी चित्तवृत्तियों और संस्कारों का निरोध करने का उपदेश देता है। मूढ और विक्षिप्त चित्त योग के योग्य नहीं हैं। एकाग्र और निरुद्ध चित्त इस योग्य हैं। योगांगों के अभ्यास से ही योग की सिद्धि की जा सकती है। योग के सिद्ध हो जाने पर दूरदर्शन, दूरश्रवण, परचित्तज्ञान, परचित्त-प्रवेश इत्यादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। अगर योगी इन सिद्धियों के मोह में पड़ गया तो वह योग से भ्रष्ट हो जाता है। अगर वह उनकी उपेक्षा करता है तो वह सदा के लिए योग में स्थित हो जाता है। योग के अभ्यास से योगी क्रमशः उच्चतर भूमियों में पहुंचता है। योग के अभ्यास के लिए शरीर, प्राण और मन का कठोर संयम करना पड़ता है। योग में मुख्य बात मानसिक अनुशासन की है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं।

(१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहख- यम कहलाते हैं। ये निषेधात्मक सद्गुण हैं। अहिंसा का मतलब है किसी भी प्राणी से किसी भी समय किसी भी तरीके से क्रूर व्यवहार न करना। सब प्राणियों के प्रति दया, करुणा और सद्भावना रखना अहिंसा है। अहिंसा का शब्दार्थ है हत्या न करना। हत्या या हिंसा सभी बुराइयों की जड़ है। इसलिए हर तरीके से हिंसा से बचना चाहिए। अहिंसा सारे नियमों और शेष यमों का भी आधार है। इसलिए योगशास्त्र में अहिंसा के ऊपर सबसे अधिक जोर दिया गया है। धार्मिक प्रयोजन में भी हिंसा करना बुरा है। इस बारे में सांख्य, योग, बौद्ध और जैन धर्म एकमत हैं। सत्य दूसरा यम है। सत्य का मतलब है सब प्राणियों के हित को ध्यान में रखते हुए जैसा सोचना वैसा ही बोलना। बोलते हुए सब प्राणियों के हित का ध्यान रखना चाहिए। ऐसे वचन नहीं बोलने चाहिए जिनसे किसी का अहित हो। दूसरे का अहित करनेवाले वचन सत्य नहीं हो सकते। दूसरे का अहित करनेवाली सत्यवादिता भी असत्यवादिता है। सत्य वही है जो सबके हित के लिए कहा जाय। इसलिए योगशास्त्र में ऐसे सत्य को बोलने का निषेध किया गया है जिससे प्राणियों को नुकसान पहुँचे। योग का नैतिक पक्ष स्वार्थवादी (egoistic) नहीं है। योग परहितवादी (altruistic) है। सत्यवादिता में वचन का तथ्य से सम्वाद होना जरूरी है। सत्यवादी पुरुष को सप्रमाण बात कहनी चाहिए। उसे वही बात कहनी चाहिए जिसे उसने देखा हो या अनुमान या शब्द प्रमाण से जाना हो। अगर उसके वचन श्रोता के मन में भ्रम पैदा करते हैं या उसे धोखा देते हैं या उसकी समझ में नहीं आते तो वे सत्य नहीं हैं। सत्यवादी वह व्यक्ति है जिसके विचार यथार्थ हों, जो उन विचारों को सही तरीके से प्रकट करता हो, सुननेवालों को सही सूचना देता हो और जिसके वचन सब प्राणियों का कल्याण करनेवाले हों।' सत्यवादिता में वक्ता के विचारों और तथ्यों का साम्य, उसके विचारों और वचनों का साम्य, उसके वचनों और श्रोता के विचारों का साम्य और उसके वचनों और सर्व-भूत-हित का साम्य शामिल है। सत्यवादिता को लोकहित का साधक होना चाहिए। अगर उसका फल अन्यों के लिए हानिकारक है तो वह सच्ची सत्यवादिता नहीं है, बल्कि सत्याभास है। योग को सत्य की धारणा सर्वहितवादी है। पाखण्ड चापलूसी छलोक्ति और समाजाधाति सत्य असत्य है। तो यम अस्तेय है। अस्तेय का मतलब है दूसरे को सम्पति पर अनुचित रूप से अधिकार न करना। केवल इतना ही नहीं बल्कि दूसरे की चीज के लिए स्पृहा का होना भी जरुरी है। स्पृहा एक मानसिक व्यापार है। इस प्रकार अस्तेय के दो पक्ष हैं-एक स्कूल या बाडा और दूसरा सुक्ष्म या आन्तरिक/चौथा ब्रहमचर्य है। ब्रहमचर्य का मतलब है उपाय-संगम और उन इन्द्रियों का भी संयम जोडकर से सम्बन्धित हैं। रति क्रिया का स्मरण उसको चर्चा किसी स्त्री से काम कीड़ा करना और एकान्त में भाषण करना, उसके अंगों को देखना काम चिन्तन रति का इरादा करना और मैथुन ये आठ प्रकार की काम तृप्तियाँ हैं। ब्रहमचर्य के लिए इन सभी से विरत होना जरूरी है। अन्तिम यम अपरिग्रह है। जो उपभोग को

वस्तुओं का संचयन करना अपरिग्रह है। ऐसी वस्तुओं का ग्रहण और रक्षण दोनों ही वर्जित हैं। जो व्यक्ति अस्पृह है वह जानता है कि सम्पत्ति का संग्रह रक्षण और व्यय करने में राग और हिंसा के दोष रहते हैं। इसलिए वह सम्पत्ति का और उपभोग को अन्य वस्तुओं का त्याग करता है। अपरिग्रह तब होता है जब व्यक्ति ऐसो बीज के अलावा जो कि शरीर यात्रा के लिए नितान्त आवश्यक है. किसी अन्य चीज को ग्रहण नहीं करता। ये यम हैं। इनका पालन करना प्रत्येक मनुष्य के लिये, प्रत्येक वर्ण के लिए प्रत्येक देश में और प्रत्येक काल में जरुरी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सर्वत्र और सभी परिस्थितियों में पालन करना चाहिए। इनके पालन में वर्ण व्यवसाय, देश, काल और प्रयोजन के कारण कोई अपवाद नहीं आना चाहिए। सभी क्षेत्रों में सभी सम्भव तरीकों से और सभी वस्तुओं के साथ इन यमों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। ये निरपवाद हैं। ये जैन धर्म में व्रत कहे गये हैं।

(२) योग का दूसरा अंग नियम है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान-ये पाँच नियम हैं। शौच के दो प्रकार हैं- बाह्य शौच और आभ्यन्तर शौच। शरीर का जल इत्यादि से प्रक्षालन बाहा शौच है। करुणा, मैत्री और मुदिता के द्वारा राग, द्वेष, अस्मिता, माया, असूया इत्यादि मलों को चित्त से निकाल देना आभ्यन्तर शौच है। सन्तोष का मतलब है उन चोजों के अलावा जो कि अनायास प्राप्त होती हैं और शरीर यात्रा के लिए नितान्त आवश्यक हैं, अन्य किसी चीज को इच्छा न करना। तप में भूख-प्यास, सर्दी गर्मी को सहना, लगातार बैठे रहना और लगातार खड़े रहना, मौन रहना, संकेत से भी इच्छाओं को प्रकट न करना और शारीरिक कठिनाइयों को झेलना शामिल हैं। स्वाध्याय का मतलब है शास्त्रों को पढ़ना, 'ओम्' का जप करना और ईश्वर का चिन्तन करना। ईश्वर प्रणिधान परम गुरु ईश्वर को सब कर्म अर्पण करना है।इसका मतलब ईश्वर की भक्ति करना नहीं है। ईश्वर की भक्ति समाधि में आती है। यम निषेधात्मक (सद्गुण या धर्म (negative virtue) हैं और नियम विधानात्मक सद्गुण या धर्म (positive virtue)) पापों का शमन उनके विरोधी सद्गुणों की भावना करने से होता है। अच्छी आदतों के अर्जन से उनकी प्रतिपक्षी बुरी आदतें छूट जाती हैं। यह प्रतिपक्ष भावना है। पाप तीन प्रकार के होते हैं-कृत, कारित और अनुमोदित। कृत वे हैं जो स्वयं किये जाते हैं; कारितं वे हैं जो दूसरों से करवाये जाते हैं; और अनुमोदित वे हैं जिनका केवल समर्थन किया जाता है। लोभ, क्रोध और मोह से मनुष्य पाप कर्म करता है। इन भावों की तीन अवस्थाएँ होती हैं-मृदु, मध्यम और अधिमात्र। इनके प्रतिकार का तरीका बराबर यह विचार करते रहना है कि इनसे अनन्त दुःख और अज्ञान पैदा होता है। इन पर विजय पाने के लिए ध्यान को प्रतिपक्षी अच्छाइयों पर केन्द्रित करना चाहिए। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से मन के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। मैत्री सबके प्रति सद्भाव है। करुणा सब दुःखी जीवों के प्रति संवेदना है। मुदिता अच्छे लोगों से प्रसन्न रहना है। उपेक्षा बुरे लोगों के प्रति उदासीनता है। राग और द्वेष पर विजय मैत्री से पाई जाती है। मैत्री, करुणा और मुदिता तीन भावनाएँ हैं। इन पर मन को केन्द्रित करने से मैत्री-बल और मुदिता-बल की प्राप्ति होती है। इन भावनाओं पर चित्त को एकाग्र करने से समाधि की प्राप्ति होती है। समाधि से उक्त तीन बल प्राप्त होते हैं। बुरे लोगों के प्रति उपेक्षा भावना नहीं है। इस पर मन को केन्द्रित नहीं किया जा सकता। इसलिए इससे समाधि प्राप्त नहीं होती और फलतः उपेक्षा-बल भी प्राप्त नहीं हो सकता। प्रतिपक्ष भावना से क्लेश नष्ट हो जाते हैं। अविद्या का नाश विद्या से होता है। अस्मिता का नाश आत्म-अनात्म-विवेक से होता है। राग और द्वेष का नाश उपेक्षा से होता है। अभिनिवेश (मृत्यु का भय) का नाश अभय से होता है। बुरे भावों का नाश अच्छे भावों से होता है। यह एक महान् मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसकी खोज योग दर्शन ने बहुत पहले कर ली थी।'

(३) तीसरा योगांग आसन है। शरीर का सुखपूर्वक एक मुद्रा में स्थिर रहना आसन है। आसन में शरीर हिलता नहीं है, न उसमें शरीर को कष्ट होता है और न मन चंचल होता है। आसन अनेक प्रकार के होते हैं। इनके अभ्यास से शरीर स्वस्थ बना रहता है और उस पर अधिकार हो जाता है। वे तंत्रिका तन्त्र को स्वस्थ रखते हैं। आसनों को किसी गुरु से सीखना चाहिए। शरीर का नियन्त्रण योग का आधार है।

(४) चौथा योगांग प्राणायाम है। श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक क्रिया का नियन्त्रण करके उसमें एक नियमित क्रम लाना प्राणायाम है। इसके तीन भाग होते हैं- पूरक, कुम्भक और रेचक। पूरक में गहरी सांस ली जाती है। जाता है। कुम्भक में फेफड़ों में भरी हुई वायु को कुछ काल तक रोका जाता है। रेचक में उस वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाला जाता है। इन तीनों का काल निश्चित है। पूरक कुम्भक और रेचक के कालों में १. ४. और २ का अनुपात रहना चाहिए। प्रण शक्तियाँ शारीरिक क्रियाओं का संचालन करती हैं। मन की इच्छाएँ और संकल्प शारीरिक क्रियाओं है। प्रकट होते हैं। अतः प्राण के नियंत्रण से मन का नियन्त्रण होता है। प्राणायाम से समाधि में सहायता मिलती है। मन के सत्त्व को अभिभूत करनेवाले विकार प्राणायाम से दब जाते हैं। इससे विवेक ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम सबसे बड़ा तप है। इससे मन के मलों का क्षय हो जाता है और ज्ञान का उदय होता है। प्राणायाम का अभ्यास किसी गुरु के निर्देशन में करना चाहिए।

(५) पाँचवां योगांग प्रत्याहार है। प्रत्याहार का मतलब है मन को बाह्य वस्तुओं से हटाकर जाती हैं। इन्द्रियों को उनसे हटा देना। अगर मन बाह्य विषयों से हट जाय तो इन्द्रियाँ स्वयंमेव उनसे हट हैं इन्द्रियाँ विषयों के पीछे नहीं बल्कि मन के पीछे चलती हैं। वे उन्हीं विषयों पर जमती जिन पर मन जमता है। बाहा इन्द्रियों का संयम मन के संयम पर निर्भर होता है। अनवरत अभ्यास, संकल्प और इन्द्रिय-निग्रह से प्रत्याहार सिद्ध होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के बहिरंग-साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि उसके तीन अन्तरंग साधन हैं। इनमें साक्षात् सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।

(६) छठा योगांग धारणा है। धारणा का मतलब है चित्त को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करना। वह वस्तु शरीर के अन्दर की या बाहर की हो सकती है। चित्त, नाभि, हृदय, नासिकाग्, जिह्वाग्र, भृकुटि-मध्य, कण्ठे या किसी अन्य अंग पर केन्द्रित किया जाता है अथवा किसी देवः प्रतिमा इत्यादि बाह्य वस्तु पर केन्द्रित किया जाता है। आसन शरीर को स्थिर रखता है और प्राणायाम श्वास-प्रश्वास को नियमित रखता है। प्रत्याहार इन्द्रियों का नियन्त्रण करता है। धारणा से चिस का नियन्त्रण होता है। धारणा में चित्त को अन्य वस्तुओं से हटा देना पड़ता है। इससे चित्त में ध्यान की क्षमता आ जाती है।

(७) सातवां योगांग ध्यान है। ध्यान 'प्रत्यय की एकतानता' है अर्थात् उसमें ध्यान की वस्तु का ज्ञान लगातार अविच्छिन्न रूप से होता है और किसी अन्य वस्तु के ज्ञान के कारण उस वस्तु के ज्ञान की धारा नहीं टूटने पाती। अन्य वस्तुओं से हटाकर एक वस्तु पर चित्त को एकाग्र करने से ध्यान की अवस्था तब पैदा होती है जब उस वस्तु का ज्ञान धारावाहिक रूप से दीर्घ काल तक होता रहता है। ध्यान में ध्येय वस्तु के प्रत्ययों का निरन्तर प्रवाह चलता है। और उस प्रवाह के मध्य किसी विसदृश प्रत्यय का प्रवेश नहीं होता।

(८) आठवां योगांग समाधि है। समाधि की अवस्था में केवल ध्येय वस्तु को ही चेतना रहती है, उस चेतना की चेतना नहीं रहती। धारणा में चित्त एकात्र होता है यानी अन्य वस्तुओं को छोड़कर केवल एक वस्तु पर केन्द्रित रहता है। ध्यान में जिस वस्तु पर चित्त केन्द्रित रहता है उसके प्रत्ययों का दीर्घ काल तक अटूट प्रवाह बना रहता है। उस अवस्था में वस्तु की, ध्यान-क्रिया की और आत्मा की चेतना रहती है। समाधि में अर्थ-मात्र का निर्भास रहता है, आत्मा का और ध्यान की क्रिया का निर्भास नहीं रहता। समाधि में आत्मा का और ध्यान की क्रिया का जैसे लोप हो जाता है, केवल ध्येय वस्तु का ही प्रकाश रहता है। जब यह समाधि की अवस्था दीर्घ काल तक रहती है तब इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब अर्थ का प्रकाश भी नहीं रहता तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि को योग में 'संयम' कहा गया है। ये सम्प्रज्ञात समाधि के अंतरंग साधन हैं, लेकिन असम्प्रज्ञात समाधि के ये बहिरंग-साधन हैं। इस अष्टांग योग के अनुष्ठान से चित्त के विकार नष्ट हो जाते हैं, तत्वज्ञान प्राप्त होता है, और ज्यों-ज्यों विकार अधिकाधिक नष्ट होते जाते हैं, तत्वज्ञान की वृद्धि होती रहती है, यहाँ तक कि अन्त में आत्मा का प्रकृति और उसकी देह, इन्द्रिय, चित्त इत्यादि विकृतियों से भिन्न होने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जब क्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नष्ट हो जाते हैं

तब चित्त के शुद्ध सत्त्व का प्रकर्ष होता है और वह विवेक ख्याति में परिणत हो जाता है। योगांगों के अभ्यास से चित्त के मल दूर हो जाते हैं और प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान हो जाता है। बुद्धिसत्त्व सुख और प्रकाश-रूप होता है। जब इसका अतिशय प्रकर्ष हो जाता है तब स्वाभावतः वह सुख और विवेक ख्याति को प्राप्त करता है। साधारणतया उसके सुख और विवेक ख्याति अव्यक्त रहते हैं, क्योंकि अधर्म और तमस् के कारण ये अभिभूत रहते हैं। जब धर्म और योगोंगों के अनुष्ठान से अधर्म और तमस् हट जाते हैं तब विवेक ख्याति का प्रकाश होता है। पतंजलि का कथन है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास करते रहने से धीरे-धीरे चित्त के मलों का क्षय हो जाता है और समाधि का आविर्भाव होता है। जब क्रियायोग के अनुष्ठान से मल क्षीण हो जाते हैं, तब सुख-दुःख-मोहात्मक चित्तवृत्तियों का ध्यान और प्रसंख्यान (विवेक ज्ञान) के अभ्यास से निरोध करना चाहिए और ऐसा तब तक करना चाहिए जब तक वे जले हुए बीज की तरह फल पैदा करने में असमर्थ नहीं हो जाते। चित्तवृत्तियों का निरोध ध्यान के सतत अभ्यास से हो सकता है। लेकिन उनके संस्कारों का निरोध केवल तभी हो सकता है जब उनका आश्रयभूत चित्त. नष्ट हो जाता है या उसका अस्मिता (अहंकार) में लय हो जाता है। संस्कार चित्त के धर्म हैं। धर्मी के नष्ट होने पर धर्मो का नाश अवश्यम्भावी है। जब चित्त का मोक्ष होता है तब वह अपने कारण में लीन हो जाता है। अस्मिता में चित्र का लय होने पर क्लेश वेदना, संवेग इत्यादि के समस्त संस्कार नष्ट हो जाते है।

संदर्भ ग्रंथ:

1) योगसूत्र
2) योगभाष्य
3) राजमार्तण्ड
4) तत्ववैशारदी
5) योगवार्तिक
6) योगमणिप्रभा

भारतीय बौद्ध कला : बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. दिलीप कुमार सिंह*
डॉ. राजेश कुमार सिंह**

प्रस्तावनाः-

भगवान बुद्ध की यात्रा से संबंधित भारत के प्रमुख बौद्ध केन्द्रों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ जब हम ऐतिहासिक युगों में कला के अभ्युदय एवं विकास का अन्वीक्षण करते हैं तो एक तरफ भारतवर्ष के अनेक महत्वपूर्ण बौद्ध तीर्थ स्थलों में बौद्ध कला का इतिहास प्रकाश में आता है, तो दूसरी तरफ गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में यहाँ पर विकसित कुछ विशिष्ट बौद्ध कला केन्द्रों जैसे मथुरा, सारनाथ एवं कोशाम्बी की महिमा का सम्यक ज्ञान होता है। तीसरी शताब्दी ई. पू. के आस-पास भारत में बौद्ध कला और वास्तु कला का उद्भव हुआ। बौद्ध कला भारत में बिना आकार के चित्रण से शुरू हुई, फिर प्रतीकात्मक और तत्पश्चात् मानव रूपी चित्रण के रूप में विकसित हुई। बौद्ध कला के प्रारम्भिक चरण में भगवान बुद्ध के प्रत्यक्ष चित्रण से दूरी बनाये रखी गयी और प्रत्यक्ष चित्रण के स्थान पर भगवान बुद्ध की शिक्षाओं, उपदेश एवं उनकी उपस्थिति को प्रदर्शित करने के लिए उनके जीवन से संबंधित प्रतीकों यथा कमल, स्तूप और धर्मचक्र पर विशेष ध्यान दिया गया।

संकेत शब्दः- *बौद्ध कला, धर्म-चक्र, बौद्ध केन्द्र, सारनाथ, एकाश्मक पत्थर, वास्तुकला, सांस्कृतिक सहिष्णुता, बोधिसत्व, महापरिनिर्वाण।*

प्रारम्भिक बौद्ध कलाः-

प्रारम्भिक बौद्ध कला बौद्ध धर्म से संबंधित कलात्मक अभिव्यक्तियों की विभिन्न श्रेणियों को प्रदर्शित करती है, जिनमें चित्रकारी, वास्तुकला और सजावटी कलाएं सम्मिलित हैं जिनका संबंध भगवान बुद्ध के जीवन, उनकी शिक्षाओं और विभिन्न प्रतीकों से है। बौद्ध स्तूप भी प्रारम्भिक बौद्ध कला की ही देन है। बौद्ध धर्म के अनुयायियों के ध्यान और अनुष्ठानों के लिए बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर बनाई गयी गुफाएँ और धार्मिक स्थल के रूप में स्थापित स्तूप प्रारम्भिक वास्तुकला के प्रमाण थे। इन स्थलों की बौद्ध भिक्षुओं और अनुयायियों के धार्मिक और सामुदायिक जीवन में विशिष्ट भूमिका थी। बौद्ध कला के प्रारम्भिक चरण ने कला के क्षेत्र में एक समृद्ध और विविध परम्परा की नींव रखी जो समय के साथ सम्पूर्ण एशिया में विकसित हुई। प्राचीन बौद्ध केन्द्र धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक रहे हैं। इसी धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही इन बौद्ध केन्द्रों के समीप ही जैन एवं ब्राह्मण धर्मो के भी विभिन्न केन्द्र स्थापित और विकसित हुए जो पारस्परिक सौहार्द के भी केन्द्र थे। अलग-अलग धर्म के अनुयायियों का अन्तर भेद धर्म में न होकर, धर्म पालन विधि और प्रक्रिया में था, जो उनके मध्य धार्मिक और सांस्कृतिक सहिष्णुता का मुख्य कारण था। प्राचीन भारत की एक समृद्ध और स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा रही है। भारतवर्ष प्राचीन काल से ही कला के क्षेत्र में अत्यन्त समृद्ध और व्यापक रहा है। कला एवं स्थापत्य भारतीय संस्कृति के प्रमुख आधारों में से एक रहा है।

भारतवर्ष में बौद्ध कला के क्षेत्र में प्रतीकात्मक चित्रण की स्थापना का श्रेय महान मौर्य सम्राट अशोक को जाता है। जिन्होने बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ अनेक उत्कृष्ट मूर्तियाँ जिनमें हाथी, घोड़ा, वृक्ष, धम्मचक्र, त्रिरत्न आदि तथा स्तूप, स्तम्भ जैसे और भी अनेक निर्माण कार्य करवाये। इसके अतिरिक्त महान मौर्य सम्राट अशोक ने भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थि धातुओं को रामग्राम स्तूप के अलावा अन्य सात स्तूपों से थोड़े-थोड़े अंश लेकर उनको चौरासी हजार भागों में विभाजित करके संपूर्ण भारतवर्ष में 84,000 स्तूपों का निर्माण करवाया था। महान सम्राट अशोक भारतवर्ष के प्रथम सम्राट थे जिन्होने निर्माण कला में चिर स्थायित्व प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम पत्थर का प्रयोग किया, जिसका उल्लेख उनके सातवें स्तम्भ अभिलेख में किया गया है। मौर्य सम्राट अशोक महान के पश्चात् भारतवर्ष पर शासन करने वाले विभिन्न राजवंशो के शासन काल में अनेक बौद्ध स्मारकों का निर्माण हुआ। जिनमें शुंग वंश, कुषाण वंश, सातवाहन वंश, गुप्त वंश, पाल वंश, चोल वंश एवं गाहड़वाल वंश के शासकों द्वारा बौद्ध कला के विकास के लिए वास्तुकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला के क्षेत्र में उत्कृष्ट एवं अद्वितीय कार्य किया।

बौद्ध धर्म से संबंधित अनेक स्मारक जिनका निर्माण मौर्य काल में हुआ वे मुख्यतः सम्राट अशोक के शासन काल से संबंधित हैं। अशोक कालीन स्मारक स्तूप, स्तम्भ, वेदिका तथा गुहा-विहार है। धार्मिक सहिष्णुता की नीति से परिपूर्ण सातवाहन सम्राटों के शासन

* शोध छात्र, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डा० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, उ० प्र०
** एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डा० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, उ० प्र०।

काल में दक्षिण भारत में भी बौद्ध कला को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। सातवाहन शासकों के काल में पुराने स्तूपों के जीर्णोद्धार के साथ-साथ नये स्तूपों का भी निर्माण हुआ किन्तु दुर्भाग्यवश तत्कालीन स्तूपों में से कोई भी स्तूप वर्तमान समय में अपनी पूर्ण अवस्था में प्राप्त नहीं है। कुषाण शासकों के संरक्षण में भी बौद्ध धर्म कला फलती-फूलती रही। महान कुषाण शासक कनिष्क ने अपने शासन काल के दौरान अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण करवाया। कुषाण शासक कनिष्क के शासन काल में भारतवर्ष में कला के क्षेत्र में दो स्वतंत्र शैलियों गान्धार कला शैली तथा मथुरा कला शैली का विकास हुआ। इन कला शैलियों का प्रभाव बौद्ध कला पर विशेष और स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं के निर्माण में इन दोनो कला शैलियों का विशेष प्रभाव है। भारतवर्ष के बाहर अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान में भी गान्धार शैली की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में गुप्त शासकों की उपलब्धियाँ भारतीय इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। गुप्त काल की कीर्ति, कला एवं दृश्य रचनाओं द्वारा अविस्मरणीय बना दी गयी है। गुप्त काल के स्तूप, गुप्त कालीन भगवान बुद्ध की प्रतिमायें एवं बोधिसत्वों की प्रतिमायें, गुहा-स्थापत्य, गुफाओं में बनाये गये भित्ति चित्र गुप्त काल की कला के चरमोत्कर्ष को प्रदर्शित करते हैं।

बौद्ध वास्तुकला:-

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् सर्वप्रथम मौर्य सम्राट महान अशोक ने भगवान बुद्ध से संबंधित अनेकों स्थलों पर विभिन्न स्मारकों का निर्माण करवाया। सम्राट अशोक महान के पश्चात् भारतवर्ष पर शासन करने वाले अनेक राजवंशों के शासकों ने भी अपने-अपने शासन काल में पवित्र बौद्ध स्थलों पर अनेक ऐतिहासिक एवं बौद्ध धर्म से संबंधित चिन्हों एवं स्मारकों के निर्माण करवाये। तीसरी शताब्दी ई. पू. से लेकर तीसरी शताब्दी ई. तक भारतवर्ष एवं कुछ बाहरी बौद्ध स्थलों पर भी बौद्ध कला एवं संस्कृति का विस्मयकारी विकास हुआ। इस काल में अनेकों स्तूप, चैत्य, स्तम्भ और विहार का निर्माण हुआ।

बौद्ध तीर्थ स्थलों पर मौर्य सम्राट अशोक महान द्वारा निर्मित करवाये गये स्तम्भ मौर्य युगीन वास्तुकला के सर्वोत्तम उदाहरण है। एकाश्मक पत्थर को तराशकर बनाये गये स्तम्भ बिना चौकी या आधार के भूमि पर टिकाये गये हैं। इन स्तम्भों की पॉलिस इतनी अच्छी है कि इनकी चमक आज भी शीशे की तरह है। सम्राट अशोक के स्तम्भों के शीर्ष पर अलग-अलग पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। सम्राट अशोक के सारनाथ स्तम्भ का सिंह शीर्ष समस्त स्तम्भशीर्षों में सर्वोत्कृष्ट है। सम्राट अशोक ने 84,000 स्तूपों का भी निर्माण करवाया था। सारनाथ और तक्षशिला स्थित ***'धर्मराजिका स्तूप'*** का निर्माण भी मूलतः अशोक के समय में ही करवाया गया था, जिन्हें बाद के शासकों द्वारा परिवर्धित करवाया गया था। सातवीं शताब्दी ई. में भारत की यात्रा पर आये चीनी यात्री ह्वेनसांग ने सारनाथ, तक्षशिला, श्रीनगर, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाराणसी, वैशाली, गया तथा कपिलवस्तु आदि स्थानों पर इन स्तूपों को देखा था। इसके अतिरिक्त पर्वत गुफाओं को काटकर निवास स्थान बनाने की कला का पूर्ण विकास मौर्य युग में हुआ। बराबर तथा नागार्जुनी की पहाड़ियों को काटकर बनाये गये आवास सम्राट अशोक और उसके पौत्र दशरथ के समय के हैं। अशोक कालीन बराबर पहाड़ी की गुफाओं में ***सुदामा की गुफा*** तथा ***कर्णचौपड़ की गुफा*** सर्वप्रसिद्ध है। इनका निर्माण क्रमशः अशोक के शासनकाल के बारहवें तथा उन्नीसवें वर्ष में हुआ था। इन गुफाओं की छतों और दीवारों की पॉलिस शीशे की तरह चमकदार है। दशरथ कालीन गुफा ***लोमश ऋषि*** के नाम उल्लेखनीय है। शुंग काल में भी बौद्ध धर्म से संबंधित अनेक स्मारकों का निर्माण हुआ, जो वास्तु कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध है। शुंग काल में भरहुत तथा साँची के स्तूप का पुनर्निर्माण प्रमुख है। सातवाहन शासकों के शासन काल में अमरावती का स्तूप और नागार्जुनीकोण्ड के स्तूपों का निर्माण हुआ तथा पर्वत गुफाओं को काटकर चैत्यगृहों विहारों का निर्माण किया गया। सातवाहन काल की महत्वपूर्ण गुफाएं अजन्ता, वेडसा, नासिक, कार्ले तथा कन्हेरी है।

कुषाण शासकों के शासन काल में बौद्ध कला का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। कुषाण शासक कनिष्क ने भी अनेक स्तूपों तथा विहार का निर्माण करवाया। कुषाण शासक कनिष्क ने राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में 150 फीट ऊँची वेदिका पर 400 फीट ऊँचा विशाल स्तूप बनवाया था, जिसका विवरण फाह्यान तथा ह्वेनसांग दोनो ने दिया है। ह्वेनसांग के अनुसार यह विशाल स्तूप पाँच भूमियों पर बना था तथा इसके शिखर पर 25 सुनहले मण्डप बनाये गये थे। गुप्त शासकों के शासन काल में निर्मित सारनाथ का धम्मेख स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध है। अजन्ता तथा बाघ की पहाड़ियों को काटकर बनायी गयी गुफाएँ बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए थी। इस प्रकार विभिन्न शासकों के शासन काल में बौद्ध केन्द्रों पर बौद्ध कला के उत्कृष्ट स्मारक वर्तमान समय में उपस्थित है।

बौद्ध मूर्तिकला:-

बौद्ध तीर्थ स्थलों पर बने अशोक स्तम्भ के शीर्ष पर विराजमान विभिन्न पशुओं की आकृतियाँ मौर्य युगीन मूर्तिकला के सर्वोत्तम निर्माण है। कुषाण शासक कनिष्क के शासन काल में गान्धार शैली तथा मथुरा शैली का विकास हुआ। गान्धार शैली का उदय यूनानी कला से हुआ। भगवान बुद्ध एवं बोधिसत्वों की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण गान्धार शैली में ही हुआ है। गान्धार शैली में ही भगवान

बुद्ध के गर्भ में आने से लेकर उनके महापरिनिर्वाण तथा अस्थि धातु का हाथी पीठ पर ले जाना जैसे 61 दृश्यों का बड़ा ही सुंदर निर्माण किया गया है। भगवान बुद्ध का एक तपस्यारत दृश्य, जिसमें उपवास के कारण उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है, गान्धार कला के सर्वोत्कृष्ट नमूनो में से एक है। लहरदार बाल, माँस-पेशियाँ तथा मूछों का अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से प्रदर्शन गान्धार कला की विशेषता है। गान्धार कला शैली में भगवान बुद्ध के साथ-साथ बोधिसत्वों की भी प्रतिमायें निर्मित की गयी। कुषाण काल में बौद्ध कला के क्षेत्र में मथुरा कला का भी विशेष योगदान है। पूर्ण रूप से भारतीय कला के रूप में प्रसिद्ध मथुरा कला में भी भगवान बुद्ध तथा बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण किया गया। मथुरा के शिल्पियों द्वारा पहले बोधिसत्व तत्पश्चात् भगवान बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया गया। मथुरा से भगवान बुद्ध तथा बोधिसत्व की खड़ी तथा बैठी हुई दोनो मुद्राओं में प्रतिमायें प्राप्त हुई है। बोधिसत्वों में मैत्रेय, काश्यप, अवलोकितेश्वर आदि की मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई है। मथुरा कला में भी भगवान बुद्ध के जन्म, राज्याभिषेक से लेकर धर्मचक्र प्रवर्तन एवं महापरिनिर्वाण आदि उनके जीवन से संबंधित विभिन्न घटनाओं का चित्रण मथुरा कला के शिल्पियों द्वारा किया गया है।

गुप्त काल में मूर्तिकला का समग्र विकास वास्तुकला की ही भाँति हुआ। गुप्त काल में भी बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। अलंकृत प्रभामण्डल के साथ निर्मित गुप्तकालीन बुद्ध मूर्तियाँ कुषाण मूर्तियों के विपरीत तथा गान्धार कला शैली से बिल्कुल भिन्न है। गुप्तकालीन मूर्तियों में तीन मूर्तियाँ सारनाथ की बुद्ध मूर्ति, मथुरा की बुद्ध मूर्ति तथा सुल्तानगंज की बुद्ध मूर्ति उल्लेखनीय है, जो वर्तमान समय में बर्मिंघम के संग्रहालय में रखी गयी है। गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमायें अभयमुद्रा, वरदमुद्रा, ध्यानमुद्रा, भूमिस्पर्शमुद्रा तथा धर्मचक्र प्रवर्तन आदि मुद्राओं में निर्मित है। गुप्तकालीन धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा की प्रतिमा की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति, गम्भीर मुस्कान एवं शान्त ध्यानमग्न मुद्रा भारतीय मूर्तिकला की सर्वोच्च एवं उत्कृष्ट सफलता का प्रदर्शन करती है। गुप्तकाल में भगवान बुद्ध की पाषाण के अतिरिक्त धातुओं से भी मूर्तियाँ निर्मित की गयी। घुँघराले बाल, लम्बे कान, दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर टिका रखना, गम्भीर मुस्कान, ध्यानमुद्रा तथा अलंकृत प्रभामण्डल गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषता है। इस प्रकार विभिन्न राजवंशों के शासकों के शासन काल में निर्मित भगवान बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमायें आज भी दर्शनार्थियों को अपनी ओर आकर्षित करती है।

बौद्ध चित्रकलाः-

महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में स्थित अजन्ता की गुफायें तक्षण तथा चित्रकला दोनों में ही उत्कृष्ट है। अजन्ता की गुफायें दूसरी शताब्दी ई. पू. से लेकर सातवीं शताब्दी ई. तक अत्यधिक प्रसिद्ध रही। यहाँ पर दूसरी शताब्दी ई. तक हीनयान मत का तथा उसके बाद महायान मत का प्रभाव रहा। गोदावरी नदी के तट पर स्थित नासिक की गुफायें प्रसिद्ध बौद्ध स्थल था। नासिक की गुफाओं में बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए सातवाहन शासकों द्वारा विहार बनवाये गये थे। इन विहारों के बरामदे में बने स्तम्भों में से कुछ को चित्रकारी द्वारा अलंकृत किया गया है। इन स्तम्भों के शीर्ष पर वृषभ, अश्व, हाथी आदि पशुओं की आकृतियाँ बनी है। कुषाण शासक कनिष्क कालीन गान्धार कला शैली में कनिष्क मंजुषा के ऊपर भगवान बुद्ध के साथ इन्द्र तथा ब्रह्मा का चित्र शाहजी ढेरी से प्राप्त हुआ है। गुप्तकाल में अजन्ता की गुफाओं में अनेक बुद्ध एवं बोधिसत्वों का चित्रांकन हुआ है। इन गुफाओं में भगवान बुद्ध के भौतिक जीवन से संबंधित अनेक घटनाओं का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। अजन्ता की गुफा संख्या सोलह में भगवान बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का एक दृश्य चित्रांकित किया गया है, जिसमें उनको पत्नी, पुत्र तथा परिचायिकाओं को छोड़कर जाते हुए प्रदर्शित किये गया है, जो उनकी वैराग्य भावना को प्रदर्शित करती है। इसके अतिरिक्त सुजाता का पायास देना, माया देवी का स्वप्न दर्शन और भी उनके जीवन से संबंधित चित्रों का अंकन अत्यन्त ही कुशलतापूर्वक किया गया है। अजन्ता की सत्रहवीं गुफा को चित्रशाला कहा गया है। इस गुफा के सर्वाधिक चित्र भगवान बुद्ध के जन्म, जीवन, महाभिनिष्क्रमण और महापरिनिर्वाण की घटनाओं से संबंधित है। इन समस्त चित्रों में से माता और शिशु नामक चित्र, जिसमें बुद्ध की पत्नी को अपने पुत्र राहुल को उन्हे समर्पित करते हुए चित्रांकित किया गया है, और माता एवं शिशु दोनों असीम श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक एकटक भगवान बुद्ध को देख रहे हैं, अत्यन्त मर्माहत करने वाला चित्र है। महाभिनिष्क्रमण का एक अन्य चित्र जिसमें बुद्ध के सिर पर मुकुट तथा शरीर सुडौल है तथा आँखों में अहिंसा, शान्ति और वैराग्य प्रदर्शित हो रहा है। निवेदिता ने कहा है कि यह चित्र शायद भगवान बुद्ध का महानतम कलात्मक प्रदर्शन है जिसे संसार ने कभी देखा है। ऐसी कल्पना बड़ी ही मुश्किल से दोबारा उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार भारत वर्ष पर शासन करने वाले विभिन्न शासकों ने अपने-अपने शासन काल में भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके जीवन से संबंधित विभिन्न घटनाओं का बड़ा ही मार्मिक, सहानुभूतिपूर्ण, करूणा से पूर्ण तथा अत्यन्त सजीवता के साथ बहुत ही आकर्षक तथा प्रभावी चित्रण किया है।

निष्कर्षः-

बौद्ध कला, बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आयमों में गहन अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। शुरुआत के अप्रत्यक्ष प्रतीकों से लेकर स्तूपों और मठ परिसरों की भव्यता तक ये कलात्मक और स्थापत्य रूप में बौद्ध शिक्षाओं के प्रसार में महत्वपूर्ण रहे है। यह

स्थायी विरासत बौद्ध धर्म की ऐतिहासिक और आध्यात्मिक यात्रा को समझने में बौद्ध कला के महत्व को प्रदर्शित करती है। बौद्ध कला अपनी लोकप्रियता तथा विश्व भर में फैले अपने अनुयायियों के कारण तथा अपनी कलात्मक परम्पराओं के कारण यह वर्तमान समय में भारत के बाहर भी अपनी छवि बिखेरे हुए है। बौद्ध कला मात्र भारतीय कला का ही भाग न होकर बल्कि सम्पूर्ण विश्व कला का भाग बन गया है। भारतवर्ष के अतिरिक्त बौद्ध कला श्रीलंका, वर्मा, थाइलैण्ड, नेपाल, तिब्बत, चीन आदि देशों में भी विकसित है। सम्राट अशोक द्वारा करवाये गये निर्माण पर विदेशी कला का थोड़ा प्रभाव दिखता है परन्तु भारतीय कला के आगे वह निम्न हो जाता है। उन स्थलों पर बौद्ध कला का सर्वाधिक विकास रहा जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से भगवान बुद्ध से रहा है। बौद्ध कला ने अपनी मातृभूमि भारतर्ष से बाहर जाकर भी विशेष विकास किया है। बौद्ध कला यद्यपि विदेशी कला के प्रभाव से प्रभावित तो हुई परन्तु विदेशी कला पर भारतीय कला के प्रभाव को भी अधिकतर प्रदर्शित किया। इस प्रकार से बौद्ध कला का भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. भारत के प्रमुख बौद्ध केन्द्र, डा. दानपाल सिंह, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ-249।
2. कला और संस्कृति: बौद्ध कला और वास्तुकला, NEXT IAS, 4 दिसम्बर 2024।
3. उत्तर प्रदेश के बौद्ध केन्द्र, डॉ. अँगने लाल, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2019, पृष्ठ-1।
4. दिव्यावदान, पृष्ठ-239/17, 241/5।
5. बुद्ध चरित, पृष्ठ-28/65।
6. प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, श्रीराम गोयल, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, खण्ड-1, पृष्ठ- 108।
7. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव, यूनाईटेड बुक डिपो, प्रयागराज, पृष्ठ- 354।
8. भारतीय कला, बासुदेव शरण अग्रवाल, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ-274।
9. Vakataka and Gupta Age, B. S. Aggrawal, Page 446-447.
10. बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पी. वी. वापट, पब्लिकेशन्स डिवीजन, ओल्ड सेक्रेट्रिएट, दिल्ली-8, पृष्ठ- 195।
11. Footfalls of Indian History, Sister Nivedita, Advaita Ashram, Kolkata, Page 135-136।
12. भारतीय कला-प्रतीक, ए. एल. श्रीवास्तव, प्रयागराज।
13. भारतीय कला, शिवस्वरूप सहाय, 2003, प्रयागराज।
14. कला के प्राण बुद्ध, जगदीश चन्द्र गुप्त, मध्य प्रदेश शासन साहित्य, नागपुर।
15. Buddhist Art and Architecture, Robert E. Fischer, Thames and Hudson, London, 1993।

प्राचीन भारतीय अभिलेख और वैष्णव धर्म

अंकेश कुमार वर्मा*

सारांश

प्राचीन भारतीय अभिलेख वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक विकास, उसके दार्शनिक स्वरूप तथा सामाजिक-राजनीतिक प्रसार को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत हैं। शिलालेखों, स्तंभ लेखों, ताम्रपत्रों एवं मुद्राओं के माध्यम से वैष्णव देवताओं–विशेषतः विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण–की उपासना, राजाश्रय तथा धार्मिक संस्थाओं की संरचना का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। मौर्य, शुंग, सातवाहन, कुषाण और गुप्त कालीन अभिलेख यह दर्शाते हैं कि वैष्णव धर्म केवल एक निजी भक्ति परंपरा नहीं था, बल्कि वह राज्यसत्ता, दान-व्यवस्था और सामाजिक संगठन से गहराई से जुड़ा हुआ था। साथ ही साथ वैष्णव धर्म ने सामाजिक बंधनों को मजबूत करने में एक महत्व भूमिका निभाई। हेलियोडोरस स्तंभ, नानाघाट अभिलेख तथा गुप्तकालीन शिलालेख वैष्णव धर्म के क्रमिक संस्थानीकरण को रेखांकित करते हैं।

यह शोध-पत्र अभिलेखीय साक्ष्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण के माध्यम से यह स्पष्ट करता है कि वैष्णव धर्म ने प्राचीन भारत में धार्मिक समन्वय, सांस्कृतिक निरंतरता और राजनीतिक वैधता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। साथ ही, यह अध्ययन अभिलेखों को वैष्णव इतिहास के पुनर्निर्माण का सबसे प्रामाणिक माध्यम सिद्ध करता है।

मुख्य शब्द : प्राचीन भारतीय अभिलेख, वैष्णव धर्म, विष्णु, वासुदेव-कृष्ण, गुप्त काल, शिलालेख, ताम्रपत्र, भक्ति परंपरा

परिचय

हमारी प्राचीनता को उजागर करने में पुरातात्विक स्रोत एक महती भूमिका निभाते हैं, विशेषकर अगर यह बात अभिलेखों के विशेष संदर्भ में की जाए तो यह ना केवल प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के लिए महत्वपूर्ण साधन है, अपितु संस्कृति, समाज व अर्थव्यवस्था की जानकारी के लिए भी अनिवार्य हैं। कल्पना और लेखक की व्यक्तिगत अभिरुचियों से ग्रस्त साहित्य की अपेक्षा अभिलेख अधिक विश्वसनीय हैं। इसके अलावा इनमें अंकित तिथिक्रम सामान्यतः वैज्ञानिक विधि से निर्धारित होते हैं, इसलिए अभिलेखीय साक्ष्य किसी भी लोककथा, विचार अथवा धर्म के विकास को स्पष्ट करने में उपयोगी होते हैं। अभिलेख, वैष्णव धर्म के राजकीय संरक्षण जैसे तथ्यों को भी स्पष्ट करने में विशेष सहायक हैं जो इस धर्म के विकास के लिए एक अनिवार्य सत्य जैसा प्रतीत होता है। अभिलेखों के अध्ययन से वैष्णव उपासकों के आचार-व्यवहारों की जानकारी भी प्राप्त होती है।

विष्णु, वैदिक देवता हैं जिनका प्रभाव निरंतर बढ़ता गया। ये व्यापक होने के कारण 'विष्णु', विजयी होने के कारण 'विष्णु', दुखी लोगों के दुखों को दूर करने के कारण 'हरि', अपनी लीलाओं से लोगों को आकर्षित करने के कारण 'कृष्ण' तथा पुरुषों में उत्तम होने के कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाए। उत्तर वैदिक काल में यज्ञों से जुड़ जाने (यज्ञो वै विष्णुः) के कारण उनके प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि हुई। वैदिक युगीन विष्णु का प्रभाव परवर्ती काल में तब और भी विराट हो गया जब उनके व्यक्तित्व में अनेक नए गुणों का समावेश हुआ। भागवत धर्म, वैष्णव धर्म का मूल है। मुख्यतः गुप्त काल से पूर्व भागवत धर्म की तीन शाखाएं थी- "वैदिक विष्णु" की शाखा, ब्राह्मण व संहिताओं में वर्णित "नारायण" की शाखा एवं ऐतिहासिक काल में "वासुदेव-कृष्ण" की शाखा। आरंभिक समय में

* शोधार्थी, प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर (उ०प्र०)

इन तीनों शाखाओं का अलग-अलग विकास होता रहा, लेकिन आगे चलकर ये सभी शाखाएं वैष्णव धर्म ने पूर्णतः समाहित हो गई।

वैष्णव धर्म की प्राचीनता : अभिलेखीय साक्ष्य

वैष्णव धर्म की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख बेसनगर (विदिशा) से प्राप्त हेलियोडोरस स्तंभ (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) है। इस अभिलेख में इंडो-ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस को भागवत कहा गया है और वासुदेव की उपासना का उल्लेख मिलता है। यह न केवल वैष्णव धर्म की प्राचीनता को दर्शाता है, बल्कि इसके अंतर-सांस्कृतिक प्रभाव को भी रेखांकित करता है।

मौर्योत्तर काल के अन्य अभिलेखों एवं मुद्राओं में वासुदेव और संकर्षण के संकेत मिलते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि इस काल तक वैष्णव भक्ति एक संगठित परंपरा का रूप ले चुकी थी।

गुप्त कालीन अभिलेख और वैष्णव धर्म का उत्कर्ष

गुप्त काल (चौथी-छठी शताब्दी ई.) को वैष्णव धर्म का स्वर्ण युग कहा जाता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, एरण, उदयगिरि तथा भीतरी अभिलेखों में विष्णु एवं उनके अवतारों का उल्लेख मिलता है। गुप्त शासकों ने स्वयं को परमभागवत घोषित किया, जो उनके वैष्णव झुकाव को स्पष्ट करता है।

चंद्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त के ताम्रपत्रों में विष्णु मंदिरों को भूमि-दान और ब्राह्मणों को अनुदान दिए जाने के उल्लेख हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैष्णव धर्म को न केवल वैचारिक समर्थन मिला, बल्कि आर्थिक एवं संस्थागत संरक्षण भी प्राप्त हुआ।

अभिलेखों में वैष्णव प्रतीक और धार्मिक अवधारणाएँ

अनेक अभिलेखों में शंख, चक्र, गदा और पद्म जैसे वैष्णव प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। इन प्रतीकों का उल्लेख यह दर्शाता है कि वैष्णव धर्म की एक सुव्यवस्थित धार्मिक एवं प्रतीकात्मक संरचना विकसित हो चुकी थी। राजकीय अभिलेखों में इन प्रतीकों की उपस्थिति इस संप्रदाय की सामाजिक स्वीकृति को प्रमाणित करती है।

दक्षिण भारत के अभिलेख और वैष्णव परंपरा

दक्षिण भारत में पल्लव, चोल, होयसळ और विजयनगर शासकों के अभिलेख वैष्णव धर्म के सशक्त प्रसार को दर्शाते हैं। महेंद्रवर्मन और नंदीवर्मन के शिलालेखों में नृसिंह अवतार की पूजा का उल्लेख मिलता है। चोल शासकों द्वारा कांची और श्रीरंगम के विष्णु मंदिरों को दिए गए दान वैष्णव धर्म की संस्थागत मजबूती को दर्शाते हैं।

विजयनगर काल के कृष्णदेवराय के शिलालेखों में कृष्ण भक्ति, धार्मिक अनुदान और सांस्कृतिक संरक्षण का विवरण मिलता है, जिससे वैष्णव धर्म का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व स्पष्ट होता है।

सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ

अभिलेख यह भी प्रमाणित करते हैं कि वैष्णव धर्म केवल राजाओं तक सीमित नहीं था। व्यापारियों, शिल्पकारों और ग्राम समुदायों द्वारा दिए गए दान अभिलेखों में दर्ज हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैष्णव धर्म ने समाज के विभिन्न वर्गों में गहरी पैठ बना ली थी और यह एक जनधर्म के रूप में विकसित हुआ।

निष्कर्ष

प्राचीन भारतीय अभिलेख वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक विकास को समझने का एक अत्यंत प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं प्रत्यक्ष स्रोत प्रस्तुत करते हैं। विभिन्न शासकों द्वारा विष्णु एवं उनके अवतारों की उपासना, मंदिरों को भूमि-दान तथा ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थाओं को अनुदान देने की परंपरा इस धर्म को प्राप्त राजकीय संरक्षण को रेखांकित करती है। इन अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी ज्ञात होता है कि वैष्णव धर्म को केवल राजसत्ता का समर्थन ही नहीं मिला, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों—व्यापारियों, ग्राम समुदायों और सामान्य जनता—में भी इसकी गहरी स्वीकृति रही। इस प्रकार, अभिलेखीय प्रमाण वैष्णव धर्म की प्राचीनता,

उसके संस्थानीकरण तथा भारतीय सांस्कृतिक जीवन पर पड़े उसके व्यापक और दीर्घकालिक प्रभाव को स्पष्ट एवं सशक्त रूप में स्थापित करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Basham, A. L. (1954). *The wonder that was India.* London: Sidgwick & Jackson.
2. Bhandarkar, R. G. (1913). *Vaishnavism, Saivism and minor religious systems*. Strassburg: Trübner.
3. Chakrabarti, D. K. (1997). *The archaeology of ancient Indian cities*. Delhi: Oxford University Press.
4. Chattopadhyaya, B. D. (1994). *The making of early medieval India.* Delhi: Oxford University Press.
5. Fleet, J. F. (1888). *Inscriptions of the early Gupta kings*. Calcutta: Government of India.
6. Gonda, J. (1970). *Visnuism and Sivaism*. London: Athlone Press.
7. Majumdar, R. C. (1951). *The history and culture of the Indian people (Vol. II)*. Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan.
8. Mukherjee, B. N. (1998). *The Kushanas and the Heliodorus pillar*. Delhi: Oxford University Press.
9. Narain, A. K. (1980). *The Indo-Greeks*. Oxford: Clarendon Press.
10. Raychaudhuri, H. C. (1923). *Political history of ancient India.* Calcutta: University of Calcutta.
11. Salomon, R. (1998). *Indian epigraphy*. New York: Oxford University Press.
12. Sastri, K. A. N. (1967). *A history of South India. Delhi*: Oxford University Press.
13. Sharma, R. S. (2001). *Early medieval Indian society*. Delhi: Orient BlackSwan.
14. Sircar, D. C. (1965). *Indian epigraphy. Delhi*: Motilal Banarsidass.
15. Thapar, R. (2002). *Early India: From the origins to AD 1300*. Delhi: Penguin.
16. Tripathi, R. S. (1985). *History of ancient India.* Delhi: Motilal Banarsidass.
17. Upinder Singh. (2008). *A history of ancient and early medieval India.* Delhi: Pearson
18. Wilson, H. H. (1840). *The Vishnu Purana*. London: John Murray.
19. Dandekar, R. N. (1981). *Vedic mythology*. Delhi: Ajanta Publications.
20. Jain, H. C. (1974). *Life in ancient India as depicted in inscriptions*. Delhi: Munshiram Manoharlal.

विनयपिटक में वर्णित कला–तत्व

तारा शर्मा*
प्रो. बीरेंद्र कुमार**

वास्तुकला

सैध्य सभ्यता के समृद्ध कलावशेषों के अनन्तर भारतीय कला का प्रवाह दीर्घकाल तक विच्छिन्न रहा। वैदिक वाङ्मय में वास्तु–प्रतिमा एवं चित्र शिल्प से सम्बन्धित विभिन्न प्रतीकों उल्लेख के बावजूद भी ई0पूर्व छठी शताब्दी तक इस कला का मूर्तरूप उपलब्ध नहीं है। इसका एक कारण यह था कि ये कलात्मक प्रतीक पर्ण, चर्म आदि ऐसे सामाग्रियों में अंकित किए गये थे, जो संघ, विनाशशील होने के कारण दीर्घकाल तक जीवित नहीं रह सकी। यह स्थिति ई0पूर्व छठी शती से धीरे–धीरे समाप्त होने लगी। इस काल से भारतीय कला के वर्तमान प्रमाणों का अस्तित्व प्रकाश में आया है। साथ ही समसामयिक साहित्यिक स्त्रोतों में इनका उल्लेख हुआ है। इन साहित्यिक स्त्रोतों में पालि, विनयपिटक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान हैं।

विनय–पिटक में जिस वास्तु–शिल्प का सविस्तार अंकन हुआ है, उसे समकालीन आवश्यकताओं का उत्पाद कहा जा सकता है। बुद्ध काल में बड़े–बड़े राज्यों की स्थापना के साथ इसके राजनीतिक केन्द्रों के रूप में महानगरियों की स्थापना हुई।[1] राज्य में सुरक्षा का भाव इतना प्रबल था कि अभी–अभी इनके नगरों के सुरक्षित करने के लिए तीन–तीन प्रकार बनाए गए।[2]

विनय में विहारों के स्वरूप, निर्माण विधि का विस्तारपूर्वक व्याख्या हुआ है। इसमें भिक्षुओं के जीवनयापन हेतु उपयोगी अनेक संरचनाएं धर्मशाला, वच्चकुटी, शयनिघर, अग्निशाला, चकमनशाला, पनीयशाला, आलिन्द, आराम आदि निर्मित की गयी थीं। इस प्रकार विहार वास्तु का प्रचलन भिक्षुणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ।

प्रासाद वास्तु –

बौद्ध पालि ग्रन्थों में प्रासाद के लिए 'पासाद' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। इसे 'रञ्जी निवेस' (राजा का निवास) भी कहा गया है।[3] बुद्ध घोस ने विशाल भवनों अथवा राजभवनों के लिए 'प्रासाद' शब्द का उल्लेख किया है।[4] विनय पिटक में विशाखा भिगारमाता द्वारा बनवाए गयें एक विशाल प्रासाद का सन्दर्भ अंकित है। प्रासाद वास्तु के अन्तर्गत जिन अन्य भवनों के सन्दर्भ बौद्ध ग्रन्थों में मिलते है, उनमें आवसथागार संस्थागार, कुटागार तथा अड्ढयोग प्रमुख है। आवसथागार अतिथियों के लिए निर्मित आवास–गृह होता था। 'संस्थागार' सभा–भवन या कक्ष का प्रतिरूप था। कूटागार ऊपर की मंजिल में स्थित कक्ष था जो अपनी सर्वोच्च स्थिति के कक्ष था, जो अपनी सर्वोच्च स्थिति के कारण महत्वपूर्ण था।

विहार–वास्तु

विहार का अभिप्राय बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनाए गये आवासों से है। सिद्धान्त बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए वृक्ष–मूल पर आवास का आदर्श की व्यवहारिक परिणति प्रायः नहीं हो सकी। इसके लिए कुछ परिस्थितियाँ भी उत्तरदायिनी थी। बौद्ध संघ में वर्षावास की परम्परा प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत वर्षावास काल में तीन मास तक भिक्षुओं के लिए चारिका का निषेध था, और पहले से निर्धारित किए गये किसी एक स्थल पर सामूहिक रूप से पूरे वर्षाकाल तक रहते थे। स्पष्ट है कि वर्षा की विभिषिका को देखते हुए यह खुले आकाश के नीचे असंभव था। अतः ऐसे बड़े–बड़े आवासों की आवश्यकता पड़ी, जिनमें बहुसंख्यक भिक्षुओं को शरण दी जा सकी तथा साथ ही उनके लिए कम से कम तीन मास तक चलने वाली जीवन यापन के लिए उपयोगी सामग्रियाँ संग्रहित किए जा सके। इस प्रकार बनाए गये भिक्षु आवास ही 'विहार' के नाम से विदित हुए। विनयपिटक में इन विहारों की संरचना पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

---

* शोधार्थिनी, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर
सम्बद्ध : दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
** शोध निर्देशक (विभागाध्यक्ष), प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर
सम्बद्ध : दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

स्तूपवास्तु –

'स्तूप' बौद्ध वास्तुकला के महत्वपूर्ण अवशेषों में से एक है। इनकी संरचना भगवान बुद्ध के पवित्र धातु अवशेषों को सुरक्षित करने के लिए करायी गई। स्पष्ट है कि बौद्ध कला के अन्तर्गत इनका निर्माण बुद्ध के परिनिर्वाण के अननन्तर प्रारम्भ हुआ। दीघनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्त से ज्ञात होता है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के शीघ्र बाद ही तथागत की चिता से शरीर–धातु का अष्टधा विभाजन हुआ तथा प्रत्येक पर अलग–अलग 'स्तूप' की रचना हुई।

अतः बौद्ध कला में स्तूपों का निर्माण बुद्ध के परिनिर्वाण के अनुवर्ती होते हुए भी एक प्राचीन परम्परा की देन है। मृतकों के लिए चित्तियों का निर्माण कर उन पर मिट्टी के थुहे चढ़ाने तथा उनमें वृक्ष अथवा यष्टि द्वारा चिहिंत करने की परम्परा वैदिक युग से प्रचलित रही। विनय के पाचित्तिय में एक साधारण भिक्षुणी की मृत्यु के बाद उसके शरीरवशेषों के ऊपर धूप (स्तूप) बनाने का उल्लेख हुआ है।

मूर्तिकला –

विनयपिटक में मूर्तिशिल्प विषयक सन्दर्भों का अभावा है। समकालीन साहित्यिक, पुरातात्विक स्तोत्रों में इसके स्वरूप का अभिज्ञान किया जा सकता है। तथागत की पवित्रता तथा बौद्ध भिक्षुओं तथा उनके पास धातु अवशेषों की पूजन की परम्परा महापरिनिर्वाण के अनन्तर स्तूपों के अर्चन से प्रारम्भ हुई।

ईसा पूर्व छठी शती के बाद साहित्यिक परम्पराओं में प्राग्य–मौर्य काल से लेकर शुंगकाल तक मूर्ति शिल्प के विकास के विभिन्न साक्ष्य मिलते है। पाणिनी ने अपनी अष्टध्यायी में मूर्ति के लिए 'प्रतिकृति' शब्द का प्रयोग किया है।[5] महाभाष्य में भी मूर्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। पंतजलि की सूचना है कि मौर्यों ने अर्थव्यवस्था को समृद्ध करने के लिए मूर्तियों का निर्माण कराया।[6] जिसका तात्पर्य है कि मौर्य सम्राटों के राजकीय संरक्षण में अर्थ लाभ हेतु मूर्तियाँ बनाई तथा बेची जाती थी। महाभारत में भीम 'आयसी' प्रतिमा तथा रामायण में सीता की कांचन प्रतिमा के उल्लेख मिलते हैं। परस्कर, अपस्तम्ब तथा सांख्यायन गृह्यसूत्रों में देवों, दानवों की मूर्तियों तथा उपासना विधियों की चर्चा की गयी है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार वर्णित है कि उसने कौसाम्बी के राजमहल में एक सुन्दर प्रतिमा देखी थी। जो वत्सराज उदयन के काल में गौद्गल्यायन ने एक शिल्पी द्वारा बनवाई थी इसी प्रकार श्रावस्ती के एक बुद्ध मन्दिर में उसने बुद्ध की पांच फुट ऊँची प्रतिमा का अवलोकन किया था उसके अनुसार उनकी संरचना कोशल नरेश प्रसेन्नजित द्वारा कराई गई थी।[7] मिलिन्दपन्हों तथा जातकों से भी स्तूप एवं प्रतिमार्चन के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

विनयकालीन मूर्तिकला के अन्तर्गत मूर्तिशिल्प का प्रतिबिम्ब जिन पुरावशेषों के द्वारा देखा जा सकता है। जैसे– चकरी, नारी मूर्तियाँ, यक्षमूर्तियाँ, मृणमूर्तियाँ आदि

चित्रकला –

विनय में कौशल राजा प्रसेन्नजित के प्रमोद उद्यान के एक भाग में मनोर 'चित्तागार' (कला वीथी) की स्थापना का सन्दर्भ मिलता है।[8] इसमें प्रदर्शित चित्रों को देखने के लिए प्रतिदिन अनेक लोग आते थे। कहा गया है कि विशेष व्यवस्था होने पर भी भिक्षुणियों को इन चित्रों को देखने का अवसर नहीं मिल पाता था।[9] पर्सी ब्राऊन के अनुसार विनय में वर्णित ये 'चित्रागार' सम्भवतः प्रसेनजित के अलंकृत कला भवन थें जिनको चित्रों अथवा फूल पत्तियों द्वारा सजाया गया था। चुल्लवग्ग के अनुसार बुद्ध ने भिक्षुओं को विहारों में 'पटिमानचित्त' अंकित कराने का निषेध किया था। यह सृजनात्मक आवासों के अनुकूल नहीं थे। इनके अन्तर्गत 'पुरुषरूपं' अर्थात पुरुष आकृतियाँ 'इत्थिरूपं' अर्थात स्त्री आकृतियाँ बनायी जाती थी। विनयपिटक के अनुसार षडवर्गीय भिक्षु इस प्रकार के चित्रांकन करते थे।[10] बुद्ध ने इस प्रकार के चित्रणों को यह कहते हुए निषिद्ध किया था कि वे कामोपयोगी गृहस्थों (गिहिकामभोगिनी) के आवासों के अनुकूल है श्रमणों के नहीं। इनके स्थान पर इन्होंने भिक्षुओं के स्थानों पर उन्होंने भिक्षुओं के विहारों में मालाओं, लताओं, वृक्षों तथा ज्यामितीय अलंकरणों को चित्रित करने की अनुमति दी थी। संयुक्त निकाय में एक चित्रकार द्वारा फलक भित्ति एवं वस्त्र के टूकड़ों पर विभिन्न रंगों का प्रयोग कर चित्र निर्मित करने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाउम्भग्ग जातक में मिथिला नरेश द्वारा पांचाल नगर मिलता है। इसके अनुसार इन चित्रकारों ने इन्द्र की क्रीड़ा भूमि, समुद्र से परिवृत, सुमेरू पर्वत, महसमुद्र, चारोमहाद्वीप, नगाधिराजहिमालय, अनुत्तम नामक झील, चन्द्र सूर्य, निर्मित किए गये थे।[11] गिलगिट से प्राप्त पाण्डुलिपियों में अम्ब्रपाली के सन्दर्भ में उल्लेख है कि उसने राजाओं, व्यापारियों तथा मंत्रियों के चित्रों को बनवाने के लिए सभी दिशाओं से उन चित्रकारों को बुलाया था जिन्होंने उन, उन राजाओं, व्यापारियों आदि को स्वमं देखा था।

चुल्लवग्ग में चित्रांकन करने के पूर्व धरातल की समतल तथा मृदू बनाने के लिए अपनाए गए अनेक उपायों का उल्लेख है। इनका प्रमुख उद्देश्य चित्रण को चिरस्थायी बनाना प्रतीत होता है। इनके रंग चढ़ाने वाले स्थान पर एक विशेष प्रकार से लेप करने का सन्दर्भ अंकित किया गया है।

इससे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम दिवालों पर भिन्न प्रकार की मिट्टी का लेप चढ़ाया जाता था अथवा भूसी का पिण्ड देकर उसे हाथ से चिकना बनाया जाता था। इनके अतिरिक्त गोंद और खली के द्वारा लेप चढ़ाने का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार के लेप लगाकर चित्रण करने पर रंग सरलता से धरातल पर चढ़ जाता था। संयुक्त निकाय में चित्र निर्माण हेतु प्रयुक्त होने वाले चार प्रकार के रंगों–लाक्षा, हल्दी, नील व मजीठ के सन्दर्भ मिलते हैं। हैवेल के अनुसार चित्रण की प्रक्रिया में चूने के पानी में मिले हुए रंगों को अच्छी तरह लेप चढ़े हुए गीले धरातल पर लगाया जाता था ताकि रसायनिक क्रिया द्वारा ये रंग धरातल के साथ स्थायित्व प्राप्त कर सकें। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में चित्रण के सन्दर्भ में प्राप्त इन उल्लेखों के आधार पर यह धारणा प्रबल होती है कि अजन्ता के भित्ति चित्रों में उकेरे गए अनेक वानस्पतिक प्रतीक तथा रेखांकन कालक्रम में परवर्ती होते हुए भी शदियों से चली आ रही चित्रांकन की परम्परा के अवशेष रहे होंगे।

संदर्भ सूची

1. झा, दिजेन्द्रनारायण ने ई0पू0 600 से 300 के बीच देशभर में स्थित लगभग 60 भारतीय का प्रमाण दिया है। दृष्टव्य एनशिएण्ट इण्डिया, इन इन्ड्रोडल्ट्री आऊट लाइन, नयी दिल्ली, 1977, पृ0 29
2. एक पण जातक में वैशाली के चतुर्दिक बनाए गये तीन प्रकारों का विवरण दिया गया है। दृष्टव्य, जातक 1, नं0 149, पृ0 316
3. राय अमित – विलेजेज एण्ड टाउन्स सेकुलर बिल्डिंग्स इन एनशिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता 1964, पृ0 80
4. पासादो ति दीघपासादो, समन्तपासादिका, जि0 6, पृ0 1215
5. अष्टाध्यायी– 5/3/16
6. पंतजलि– महाभाष्य, 5/3/96
7. वाट्र्स–टामस– आन दि ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इल इण्डिया, भाग, पृ0 368, 384
8. पाचित्तिय, पृ0 407
9. वही
10. चुल्लवग्ग, पृ0 245
11. जातक, भाग 6, पृ0 19

माध्यमिक विद्यालय के बच्चों में उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थितियों का उनकी शैक्षणिक उपलब्धि पर प्रभावः एक अध्ययन

अज़ीमा खुशनूदी*
मो. नसीम खान**

सारः–

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य माध्यमिक विद्यालय स्तर के बच्चों में सामाजिक–आर्थिक स्थिति का उनकी शैक्षणिक उपलब्धि पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है। सामाजिक–आर्थिक स्थिति बच्चों के शैक्षणिक विकास का एक महत्वपूर्ण निर्धारक मानी जाती है, क्योंकि इससे शैक्षिक संसाधनों की उपलब्धता, पारिवारिक सहयोग, अध्ययन वातावरण तथा प्रेरणा स्तर प्रभावित होते हैं। इस अध्ययन में उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि की तुलना की गई है। अध्ययन के लिए 120 विद्यार्थियों का चयन किया गया, जिनमें 60 विद्यार्थी उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति एवं 60 विद्यार्थी निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति से संबंधित हैं। सामाजिक–आर्थिक स्थिति के निर्धारण हेतु मानकीकृत प्रश्नावली तथा शैक्षणिक उपलब्धि के लिए विद्यालयीय परीक्षा अंकों का उपयोग किया गया। प्राप्त आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण कर यह ज्ञात करने का प्रयास किया गया कि क्या सामाजिक–आर्थिक स्थिति का शैक्षणिक उपलब्धि पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अध्ययन से यह अपेक्षा की जाती है कि उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा अधिक होगी। यह अध्ययन शिक्षकों, विद्यालय प्रशासन तथा नीति–निर्माताओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

मूल शब्दः– सामाजिक–आर्थिक स्थिति, शैक्षणिक उपलब्धि, माध्यमिक विद्यालय, उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति, निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति।

शिक्षा किसी भी समाज के विकास का आधार है और बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि उनके भविष्य के अवसरों को निर्धारित करती है। माध्यमिक विद्यालय स्तर वह अवस्था है जहाँ विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता, रुचियाँ और शैक्षिक लक्ष्य स्पष्ट होने लगते हैं। इस स्तर पर बच्चों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति उनकी शिक्षा पर विशेष प्रभाव डालती है।

सामाजिक–आर्थिक स्थिति में परिवार की आय, माता–पिता की शिक्षा, पेशा, आवासीय स्थिति तथा शैक्षिक संसाधनों की उपलब्धता शामिल होती है। उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों को प्रायः बेहतर शिक्षण वातावरण, निजी ट्यूशन, तकनीकी संसाधन और शैक्षणिक मार्गदर्शन प्राप्त होता है, जिससे उनकी शैक्षणिक उपलब्धि बेहतर होती है। इसके विपरीत, निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों को सीमित संसाधनों, पारिवारिक दबावों और कम शैक्षणिक सहयोग का सामना करना पड़ता है, जिससे उनकी शैक्षणिक उपलब्धि प्रभावित हो सकती है।

अतः यह आवश्यक है कि माध्यमिक स्तर पर सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि के संबंध का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए।

शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक–आर्थिक स्थिति, शैक्षणिक उपलब्धि एवं संज्ञानात्मकध्रचनात्मक क्षमताओं पर अनेक शोध किए गए हैं। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि बच्चों की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि उनके शैक्षिक एवं बौद्धिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

शर्मा एवं वर्मा (2016) ने माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि के संबंध का अध्ययन किया। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले छात्रों की अपेक्षा अधिक थी।

---

* शोधार्थी (मनोविज्ञान विभाग), मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, मोबाइल न.:–8804702132
Email: azimakhushnoodi@gmail.com
** प्रोफेसर, पी० जी० सेंटर, मनोविज्ञान विभाग, मिर्जा गालिब कॉलेज, गया

सिंह (2017) ने ग्रामीण क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों पर किए गए अध्ययन में पाया कि सीमित संसाधन, पारिवारिक दबाव और शैक्षिक सहयोग की कमी छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

गुप्ता एवं सक्सेना (2018) ने शहरी और ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि की तुलना की। अध्ययन में यह पाया गया कि शहरी छात्रों को बेहतर शैक्षणिक सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण उनकी उपलब्धि स्तर अपेक्षाकृत उच्च था।

यादव (2019) ने सामाजिक–आर्थिक स्थिति और बुद्धि स्तर के संबंध का अध्ययन किया। शोध निष्कर्षों से यह स्पष्ट हुआ कि उच्च सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि वाले छात्रों में बुद्धि स्तर अधिक विकसित पाया गया, जिससे उनकी शैक्षणिक उपलब्धि भी बेहतर रही।

पांडे एवं तिवारी (2020) ने माध्यमिक स्तर पर छात्रों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि के बीच सहसंबंध का अध्ययन किया। अध्ययन में सकारात्मक एवं सार्थक सहसंबंध पाया गया।

राठौर (2021) ने माध्यमिक विद्यालयों में निम्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि वाले छात्रों की शैक्षणिक समस्याओं का अध्ययन किया। निष्कर्षों से ज्ञात हुआ कि आर्थिक कठिनाइयाँ, घरेलू जिम्मेदारियाँ और शैक्षणिक संसाधनों की कमी उनकी उपलब्धि को प्रभावित करती है।

मिश्र एवं सिंह (2022) ने माध्यमिक स्तर के छात्रों में सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि के प्रभाव का अध्ययन किया। अध्ययन में यह पाया गया कि माता–पिता की शिक्षा और पारिवारिक आय छात्रों की शैक्षणिक सफलता में निर्णायक भूमिका निभाती है।

कुमार एवं मिश्र (2023) ने बिहार के ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की रचनात्मक सोच के क्षेत्रीय भेद का अध्ययन किया। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि शहरी क्षेत्र के छात्र अधिक नवाचार क्षमता दिखाते हैं, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में संसाधनों की कमी रचनात्मकता को प्रभावित करती है।

उपरोक्त अध्ययनों की समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक–आर्थिक स्थिति का माध्यमिक विद्यालय स्तर के छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि, बुद्धि स्तर एवं रचनात्मक क्षमता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अधिकांश शोधों में उच्च सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि वाले छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि अधिक पाई गई है। वर्तमान अध्ययन इन्हीं निष्कर्षों को आगे बढ़ाते हुए उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि के तुलनात्मक विश्लेषण पर केंद्रित है।

अध्ययन के उद्देश्य–

I. माध्यमिक विद्यालय के बच्चों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना।
II. उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि का अध्ययन करना।
III. निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि का अध्ययन करना।
IV. उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि में अंतर का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ–

I. उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि अधिक होगी।
II. निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि अपेक्षाकृत कम होगी।
III. उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की शैक्षणिक उपलब्धि में महत्वपूर्ण अंतर होगा।

अध्ययन पद्धति– अध्ययन का प्रकार मे वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन करना।

नमूना– इस अध्ययन में माध्यमिक विद्यालय स्तर के कुल 120 विद्यार्थी शामिल किए गए हैं जो कि 60 विद्यार्थी – उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति एवं 60 विद्यार्थी, निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति, नमूने का चयन उद्देश्यपूर्ण विधि द्वारा किया गया। अध्ययन का क्षेत्र चयनित शहरी माध्यमिक विद्यालय गया जी जिला से लिया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में माध्यमिक विद्यालय स्तर के 120 विद्यार्थियों के आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण किया गया। इनमें 60 विद्यार्थी उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति तथा 60 विद्यार्थी निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति से संबंधित थे। प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण माध्य, मानक विचलन तथा ज–जमेज के माध्यम से किया गया। अध्ययन से प्राप्त प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हैं–

उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि– विश्लेषण से यह पाया गया कि उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों का औसत शैक्षणिक उपलब्धि स्तर अपेक्षाकृत अधिक था। इन विद्यार्थियों को बेहतर शैक्षणिक संसाधन, अनुकूल अध्ययन वातावरण तथा पारिवारिक सहयोग प्राप्त होने के कारण उनका प्रदर्शन बेहतर पाया गया।

निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि– निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की औसत शैक्षणिक उपलब्धि उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की तुलना में कम पाई गई। आर्थिक सीमाएँ, संसाधनों की कमी तथा पारिवारिक जिम्मेदारियाँ उनकी शैक्षणिक उपलब्धि को प्रभावित करती हैं।

उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति के विद्यार्थियों के बीच अंतर को टी–अनुपात के में उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि में सार्थक एवं महत्वपूर्ण अंतरों को देखना है। जिनका अभिकलन सारिणी–02 में निरूपित किया जा रहा है।

परिणामों की तालिका

तालिका–1 : उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि का तुलनात्मक विवरण

बालक समूह	N	शैक्षणिक उपलब्धि		t	*df*	सार्थकता
		Mean	SD			
उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति	180	68.45	8.32	4.	118	p<.01
निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति	180	59.21	9.15	26		

प्रस्तुत अध्ययन में उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि में अंतर ज्ञात करने हेतु स्वतंत्र नमूना टी–अनुपात का प्रयोग किया गया। तालिका–1 से स्पष्ट है कि उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों का माध्य स्कोर 68.45 है, जबकि निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों का माध्य स्कोर 59.20 पाया गया। दोनों समूहों के माध्य अंकों में पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। वहीं गणना से प्राप्त टी–मान = 4.26 है, जो कि 0.01 स्तर पर सार्थक है। इसका अर्थ है कि उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि में पाया गया अंतर मात्र संयोगवश नहीं है, बल्कि यह सामाजिक–आर्थिक स्थिति के प्रभाव के कारण है। सामाजिक–आर्थिक स्थिति का प्रभाव– अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक–आर्थिक स्थिति विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति विद्यार्थियों को शैक्षणिक सफलता की ओर अग्रसर करती है।

अतः शून्य परिकल्पना अस्वीकार की जाती है तथा वैकल्पिक परिकल्पना स्वीकार की जाती है। अध्ययन के परिणाम स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि माध्यमिक विद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति उनकी शैक्षणिक उपलब्धि को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है। अतः शिक्षा में समान अवसर प्रदान करने हेतु निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों के लिए विशेष शैक्षणिक सहायता एवं संसाधन उपलब्ध कराना आवश्यक है।

चर्चा– प्रस्तुत अध्ययन के परिणाम पूर्ववर्ती शोधों से भी सामंजस्य रखते हैं। पूर्व अध्ययनों में यह पाया गया है कि उच्च सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि वाले विद्यार्थियों को बेहतर शैक्षणिक संसाधन, अनुकूल अध्ययन वातावरण, निजी ट्यूशन तथा अभिभावकों का शैक्षणिक सहयोग प्राप्त होता है, जिससे उनकी शैक्षणिक उपलब्धि में वृद्धि होती है। अध्ययन से प्राप्त परिणामों के आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि माध्यमिक विद्यालय स्तर के विद्यार्थियों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति उनकी शैक्षणिक उपलब्धि को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है। उच्च सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों की तुलना में अधिक पाई गई। सांख्यिकीय विश्लेषण से यह भी प्रमाणित हुआ कि दोनों समूहों के बीच अंतर सार्थक है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक–आर्थिक स्थिति विद्यार्थियों की शैक्षणिक सफलता का एक प्रमुख निर्धारक तत्व है।

इसके विपरीत, निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों को आर्थिक कठिनाइयों, संसाधनों की कमी, घरेलू जिम्मेदारियों तथा शैक्षणिक मार्गदर्शन के अभाव का सामना करना पड़ता है, जो उनकी शैक्षणिक उपलब्धि को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि यदि निम्न सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले विद्यार्थियों को उचित शैक्षणिक सहायता, छात्रवृत्ति, निःशुल्क अध्ययन सामग्री तथा विद्यालयीय सहयोग प्रदान किया जाए, तो उनकी शैक्षणिक उपलब्धि में भी अपेक्षित सुधार किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा, आर. एवं वर्मा, एस. (2016). माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि का अध्ययन. शैक्षिक अनुसंधान पत्रिका, 12(2), 45–52.
2. सिंह, ए. (2017). ग्रामीण क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि से संबंधित समस्याएँ. भारतीय शिक्षा समीक्षा, 9(1), 33–40.
3. गुप्ता, के. एवं सक्सेना, पी. (2018). शहरी एवं ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि का तुलनात्मक अध्ययन. शिक्षा विमर्श, 14(3), 60–68.
4. यादव, एम. (2019). सामाजिक–आर्थिक स्थिति और बुद्धि स्तर के मध्य संबंध का अध्ययन. शैक्षिक मनोविज्ञान जर्नल, 7(2), 25–31.
5. पांडे, आर. एवं तिवारी, एन. (2020). माध्यमिक स्तर पर सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि का सहसंबंधात्मक अध्ययन. भारतीय शैक्षिक अनुसंधान पत्रिका, 18(1), 41–49.
6. राठौर, डी. (2021). निम्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि वाले माध्यमिक छात्रों की शैक्षणिक समस्याओं का अध्ययन. शिक्षा और समाज, 6(2), 54–61.
7. मिश्र, एस. एवं सिंह, के. (2022). माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति और शैक्षणिक उपलब्धि पर प्रभाव का अध्ययन. शिक्षा शोध पत्रिका, 11(1), 20–28.
8. कुमार, ए. एवं मिश्र, आर. (2023). बिहार के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की रचनात्मक सोच का क्षेत्रीय अध्ययन. समकालीन शिक्षा अध्ययन, 15(2), 35–44.

उरांव समाज में जतरा –लोकसंस्कृति, स्वदेशी ज्ञान प्रणाली और पर्यावरणीय चेतना

आरती*
डॉ. शिल्पी गुप्ता**

सार

यह शोध पत्र उरांव समाज की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक परंपरा जतरा और उससे जुड़े लोकगीतों के सामाजिक, धार्मिक, पर्यावरणीय और सांस्कृतिक महत्व का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जतरा उरांव समाज में केवल नृत्य–गान या मनोरंजन का उत्सव नहीं है, बल्कि यह सामूहिक सहभागिता, सामाजिक एकता और सांस्कृतिक निरंतरता का सशक्त माध्यम है। इस अवसर पर विभिन्न गाँवों और पड़हाओं के लोग अखाड़ों और जतरा टांडों में एकत्र होकर पारंपरिक वाद्य यंत्रों मांदर, ढोलक, झांझ और नगाड़ेकृकी ताल पर नृत्य–गान करते हैं। इसमें दर्शक और कलाकार का भेद समाप्त हो जाता है, जिससे सामूहिकता और सामाजिक समरसता का भाव विकसित होता है। शोध में जतरा से जुड़े धार्मिक अनुष्ठानों, जैसे जतरा चंडी की स्थापना, पिंजरा डांग और दीप प्रज्वलन, का विश्लेषण किया गया है, जो सामुदायिक आस्था, शांति और अनुशासन को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साथ ही, जतरा का ऋतुचक्र और कृषि जीवन से गहरा संबंध भी स्पष्ट किया गया है। ऋतु के अनुसार गीत–नृत्य करने की परंपरा उरांव समाज की गहरी पर्यावरणीय चेतना और स्वदेशी ज्ञान प्रणाली को दर्शाती है।

इस अध्ययन का एक प्रमुख पक्ष जतरा से जुड़े लोकगीतों का विश्लेषण है, जिनमें प्रवासी जीवन की पीड़ा, स्त्री–आत्मसम्मान, पारिवारिक संबंध, श्रम और प्रकृति–प्रेम की अभिव्यक्ति मिलती है। ये लोकगीत समाज की सामूहिक स्मृति और अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली का कार्य करते हैं। निष्कर्षतः, यह शोध दर्शाता है कि जतरा और उसके लोकगीत उरांव समाज में सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक पहचान और पर्यावरणीय संतुलन को बनाए रखने की एक सशक्त स्वदेशी व्यवस्था हैं।

मुख्य शब्द–जतरा, उरांव समाज, लोकगीत, लोकसंस्कृति, सामूहिक सहभागिता, धार्मिक अनुष्ठान

उरांव समाज की सांस्कृतिक परंपराओं में जतरा एक ऐसी संस्था है जो केवल उत्सव, नृत्य या मनोरंजन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज की सामूहिक चेतना, धार्मिक आस्था, सामाजिक संगठन, ऋतुचक्र और प्रकृति के साथ सहअस्तित्व की भावना का सजीव रूप है। जतरा को समझना वस्तुतः उरांव समाज के जीवन–दर्शन को समझना है, क्योंकि इसमें उनका इतिहास, सामाजिक संबंध, आर्थिक यथार्थ, स्त्री–पुरुष की भूमिकाएँ, प्रवासी जीवन की पीड़ा और प्रकृति के प्रति श्रद्धा–सब एक साथ समाहित हैं।[1]

उरांव समाज में जतरा अत्यंत लोकप्रिय आयोजन है। यह वह अवसर है जब विभिन्न गाँवों और पड़हाओं के लोग एक स्थान पर एकत्र होते हैं। जतरा में नृत्य, गायन और वाद्य संगीत का सामूहिक प्रदर्शन होता है। इसमें भाग लेने वाले लोग अपने–अपने गाँवों के चिन्हों और पारंपरिक वेशभूषा के साथ आते हैं। रंग–बिरंगे वस्त्र, पाँवों में झुटिया की झंकार, मांदर और ढोलक की ताल, झांझ और नगाड़े की गूँज ये सभी मिलकर जतरा को एक विशिष्ट सांस्कृतिक अनुभव बना देते हैं।

जतरा केवल देखने का आयोजन नहीं है, बल्कि यह सहभागी उत्सव है। इसमें दर्शक और कलाकार के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं होता। जो देखने आता है, वही नाचने–गाने लगता है। इसीलिए जतरा को सामूहिक जीवन का उत्सव कहा जा सकता है। दूर–दराज से लोग जतराओं में आते हैं और नृत्य का आनंद लेने के साथ–साथ अपने रिश्तेदारों से मिलते–जुलते हैं। पुराने समय में जब डाक–तार और आधुनिक संचार के साधन उपलब्ध नहीं थे, तब जतराएँ सामाजिक संपर्क का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम थीं। लोग इन्हीं अवसरों पर अपने संबंधियों का हाल–समाचार, सुख–दुख और पारिवारिक परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करते थे।

* शोधार्थी, वनस्थली विद्यापीठ, ई–मेल : arti1529@gmail.com, मोबाइल नं. : 9113433833

** एसोसिएट प्रोफेसर, वनस्थली विद्यापीठ, ई–मेल : shilpigupta@banasthali.in, मोबाइल नं. : 9414543087

[1] तिरकी, भीखू, उरांव–सरना धर्म और संस्कृति, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011, पृ. 241

धार्मिक आस्था और अनुष्ठानिक परंपराएँ

जतरा का एक महत्वपूर्ण पक्ष उसका धार्मिक और अनुष्ठानिक स्वरूप है। जतरा टांड़ में जतरा चंडी की स्थापना और पूजा की जाती है। चंडी के प्रतीक के रूप में लकड़ी का एक मोटा और ऊँचा खूँटा लगाया जाता है। पूजा से पहले इस खूँटे को विधिपूर्वक धोया जाता है और चावल की गोलियों से रंगा जाता है। कई स्थानों पर उस पर सफेद मिट्टी का लेप किया जाता है और माला पहनाई जाती है। यह खूँटा केवल लकड़ी का टुकड़ा नहीं होता, बल्कि वह सामुदायिक आस्था और शक्ति का प्रतीक होता है।

जतरा के मंगलमय और शांतिपूर्ण आयोजन के लिए पाहन और महतो एक दिन पहले या रात में चंडी की पूजा करते हैं और बलि देते हैं। इस पूजा का उद्देश्य यह होता है कि जतरा बिना किसी झगड़े, हिंसा या अशांति के संपन्न हो। समाज चंडी से यह प्रार्थना करता है कि उत्सव के दौरान सभी लोग आनंदपूर्वक नृत्य–गान करें और किसी प्रकार का विवाद न हो।[2] इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठान सामाजिक अनुशासन और सामूहिक शांति बनाए रखने का साधन बन जाते हैं।

जतरा से जुड़ा एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीक पिंजरा डांग है। इसमें लंबे बाँस के ऊपरी सिरे पर पिंजरा बाँधकर उसमें दीप जलाया जाता है। यह दीप चंडी की महिमा और ज्योति का प्रतीक माना जाता है। दीप का जलते रहना खुशी, शुभता और सुरक्षा का संकेत है, जबकि उसका बुझ जाना अशुभ माना जाता है। [3]इस विश्वास के साथ जुड़ा लोकगीत यह दर्शाता है कि यदि दीप बुझ जाए तो उसे तुरंत अपने गाँव वापस कर देना चाहिए, क्योंकि यह अनिष्ट का संकेत है। इस प्रकार धार्मिक प्रतीक समाज में सावधानी, अनुशासन और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को मजबूत करते हैं।

जतरा और सामुदायिक अनुशासन

जतरा उरांव समाज में केवल मनोरंजन या उत्सव का अवसर नहीं है, बल्कि यह पूरे समुदाय की सामूहिक भागीदारी का जीवंत रूप है। इस उत्सव में अलग–अलग गाँवों और पड़हाओं के लोग अपने दैनिक कार्यों को छोड़कर एक निश्चित स्थान अखाड़ा या जतरा टांड में एकत्र होते हैं। अखाड़ा और जतरा टांड केवल भौतिक स्थान नहीं होते, बल्कि वे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के केंद्र होते हैं, जहाँ समुदाय की एकता और सामूहिक चेतना प्रकट होती है।

स्त्री–केन्द्रित जतरा गीत उरांव समाज में स्त्री की सामाजिक पहचान और आत्मसम्मान को भी उजागर करते हैं। अंगूठी, चूड़ी या गुँजी जैसे आभूषण स्त्री की पहचान और ससुराल में उसके सम्मान से जुड़े होते हैं। गीतों में यह भावना व्यक्त होती है कि खाली हाथ ससुराल जाना उचित नहीं है, क्योंकि आभूषण ही उसकी शोभा और पहचान हैं।[4] इस प्रकार जतरा गीतों के माध्यम से स्त्री की गरिमा, उसकी सामाजिक भूमिका और पारिवारिक संबंधों की संवेदनशील अभिव्यक्ति होती है।

जतराओं का आयोजन पारंपरिक रूप से पड़हा पंचायत के निर्णय के अनुसार होता है। किसी पड़हा में एक जतरा लगता है, तो किसी में दो या उससे अधिक। वैशाख महीने के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि से जतराओं की शुरुआत होती है और पूरे महीने भर विभिन्न क्षेत्रों में क्रमशः जतराएँ लगती हैं। अंतिम जेट जतरा भी निश्चित पड़हा के अंतर्गत ही होता है। इस क्रमबद्धता से यह स्पष्ट होता है कि जतरा केवल उत्सव नहीं, बल्कि एक सुव्यवस्थित सामाजिक संस्था है।[5]

जतरा के दौरान मांदर, ढोलक, झांझ और नगाड़े जैसे पारंपरिक वाद्य यंत्र बजाए जाते हैं। इन वाद्यों की लय पर युवक–युवतियाँ पारंपरिक वेशभूषा में नृत्य करते हैं। यह नृत्य किसी एक व्यक्ति या समूह का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि पूरे समाज की सामूहिक अभिव्यक्ति होता है। इसमें उम्र, लिंग या सामाजिक हैसियत के आधार पर कोई भेद नहीं किया जाता। जो व्यक्ति जतरा देखने आता है, वही थोड़ी देर में नृत्य और गायन में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार दर्शक और कलाकार के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है और हर व्यक्ति स्वयं को इस उत्सव का सक्रिय हिस्सा मानता है।

---

[2] वही, पृ. 241

[3] चंद्रा. एस.सी, उरांव रिलीजन एण्ड कस्टम, नई दिल्लीः ज्ञान पब्लिकेशन हाउस, 1915, पृ. 231–238.

[4] वही, पृ. 241–247

[5] तिरकी, भीखू ,उरांव–सरना धर्म और संस्कृति ,राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 244

यही सामूहिक सहभागिता जतरा को सामाजिक समरसता का प्रतीक बनाती है। जब लोग एक साथ नाचते–गाते हैं, तो उनके बीच के मतभेद, व्यक्तिगत तनाव और सामाजिक दूरी स्वतः ही कम हो जाती है। सामूहिक आनंद का यह अनुभव समाज में आपसी विश्वास, सहयोग और भाईचारे की भावना को मजबूत करता है। इस कारण जतरा केवल खुशी का अवसर नहीं, बल्कि सामाजिक एकता को बनाए रखने का माध्यम भी है।

पुराने समय में, जब पत्र, टेलीफोन या आधुनिक संचार साधन उपलब्ध नहीं थे, तब जतराओं का महत्व और भी बढ़ जाता था। दूर–दराज बसे रिश्तेदारों और परिचितों से मिलने का यही सबसे उपयुक्त अवसर होता था। लोग जतरा देखने के बहाने अपने सगे–संबंधियों से मिलते, उनका हाल–चाल पूछते और अपने सुख–दुख साझा करते थे।[6] इस प्रकार जतराएँ सूचना के आदान–प्रदान और सामाजिक संवाद का प्रमुख मंच बन जाती थीं।

इस सामाजिक संपर्क के माध्यम से पारिवारिक और सामुदायिक रिश्ते सुदृढ़ होते थे। नए संबंध स्थापित होते थे और पुराने संबंधों में ताजगी आती थी। इस तरह जतरा उरांव समाज को एक सूत्र में बाँधने वाली सांस्कृतिक कड़ी के रूप में कार्य करता था, जो समुदाय की सामाजिक संरचना और सामूहिक जीवन को सशक्त बनाता था।

जतरा उरांव समाज में केवल सांस्कृतिक उत्सव नहीं, बल्कि एक गहरा धार्मिक अनुष्ठान भी है। जतरा का धार्मिक पक्ष समाज की सामूहिक आस्था, भय–आशा और नैतिक अनुशासन से जुड़ा हुआ है। जतरा टांड में जतरा चंडी की स्थापना इस उत्सव का केंद्रीय धार्मिक कार्य होता है। चंडी को उरांव समाज में गाँव और समुदाय की रक्षक शक्ति माना जाता है। चंडी की स्थापना के माध्यम से यह विश्वास व्यक्त किया जाता है कि देवी की उपस्थिति में ही जतरा सुरक्षित, शांतिपूर्ण और मंगलमय रूप से सम्पन्न होगा।

चंडी के प्रतीक के रूप में स्थापित लकड़ी का मोटा और ऊँचा खूँटा साधारण लकड़ी का टुकड़ा नहीं होता। इसे विधिपूर्वक धोना, चावल की गोलियों से रंगना और सफेद मिट्टी का लेप करना शुद्धता और पवित्रता का संकेत है। चावल जीवन, समृद्धि और अन्न का प्रतीक है, जबकि सफेद मिट्टी शांति और शुद्धता को दर्शाती है। माला पहनाकर इस खूँटे को पूजनीय बनाना यह दर्शाता है कि अब यह साधारण वस्तु नहीं रही, बल्कि सामुदायिक आस्था का केंद्र बन चुकी है। इस खूँटे के चारों ओर ही नृत्य–गान और अन्य गतिविधियाँ होती हैं, जिससे यह पूरे उत्सव का धार्मिक और सांस्कृतिक केंद्र बन जाता है।[7]

जतरा के शांतिपूर्ण आयोजन के लिए पाहन और महतो की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। पाहन धार्मिक अनुष्ठानों का संचालन करता है, जबकि महतो सामाजिक व्यवस्था और अनुशासन का ध्यान रखता है। उनके द्वारा की गई पूजा–अर्चना और बलि का उद्देश्य देवी–देवताओं को प्रसन्न करना और समुदाय के लिए संरक्षण की कामना करना होता है। यह विश्वास किया जाता है कि यदि विधि–विधान का पालन ठीक से न किया जाए, तो झगड़े, बीमारी या अन्य अनिष्ट घटनाएँ हो सकती हैं। इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठान समाज में भय और नैतिक नियंत्रण दोनों का कार्य करते हैं, जिससे लोग संयमित और अनुशासित व्यवहार करते हैं।

[6] वही, पृ. 244

[7] भगत,सुरेश, पर्यावरण संरक्षण में जनजातियों की भूमिका, राँचीः जर्नल ऑफ झारखण्ड ट्राइबल रिसर्च इंस्टिट्यूट, 2008 वॉल्यूम 43, पृ. 38

ऋतुचक्र, कृषि और पर्यावरणीय चेतना

जतरा उरांव समाज के लिए केवल सांस्कृतिक उत्सव नहीं है, बल्कि यह उनके कृषि जीवन और प्राकृतिक समय–चक्र से गहराई से जुड़ा हुआ है। उरांव समाज मुख्यतः कृषक समाज है, इसलिए उनका जीवन वर्षा, मिट्टी, बीज और फसल के साथ जुड़ा रहता है। इसी कारण उनके पर्व–त्योहार और जतराएँ ऋतुओं के अनुसार निश्चित की जाती हैं। बरसात समाप्त होते ही करमा, जितिया, सरहुल, फागुन और जेट जैसे जतराओं का आयोजन किया जाता है। ये सभी पर्व और जतराएँ कृषि–चक्र के अलग–अलग चरणों से संबंधित हैंकृकहीं फसल की तैयारी, कहीं बीज बोने की कामना, तो कहीं अच्छी वर्षा और उपज के लिए प्रार्थना।[8]

विशेष रूप से जेट जतरा का महत्व अत्यंत गहरा है। जेट जतरा के बाद वर्षा के आगमन की आशा की जाती है और खेती–बाड़ी का कार्य आरंभ होने लगता है। यह समय सामूहिक रूप से खेतों में श्रम करने का होता है। इसके बाद आषाढ़, सावन और भादो जैसे वर्षा ऋतु के महीनों में लोग प्रायः गाँव में ही रहते हैं। इन महीनों में लगातार श्रम, कीचड़ और कठिन परिस्थितियों के बीच काम करना पड़ता है। ऐसे समय में रात को अखाड़ों में नृत्य–गान करना केवल मनोरंजन नहीं होता, बल्कि मानसिक और शारीरिक ऊर्जा को बनाए रखने का माध्यम बन जाता है। सामूहिक नृत्य–गान से लोगों की थकान कम होती है और उनमें फिर से काम करने की शक्ति का संचार होता है।[9]

उरांव समाज में यह दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक ऋतु का अपना स्वभाव, अपना गीत और अपनी ताल होती है। जिस ऋतु में जतरा होता है, उसी ऋतु के अनुरूप गीत, ताल और नृत्य किया जाना चाहिए। यह धारणा केवल धार्मिक विश्वास नहीं, बल्कि प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है। अलग–अलग ऋतुओं में प्रकृति की ध्वनियाँ, वातावरण और मनोभाव बदल जाते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के अनुरूप गीत और नृत्य बनाए गए हैं। असमय गीत गाना या दूसरे मौसम का नृत्य करना प्रकृति के क्रम को बिगाड़ने वाला माना जाता है।

यह विश्वास उरांव समाज की गहरी पर्यावरणीय समझ को दर्शाता है। उनके लिए संस्कृति और प्रकृति अलग–अलग नहीं हैं, बल्कि एक–दूसरे से जुड़ी हुई हैं। गीत और नृत्य केवल मानवीय अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ संवाद का माध्यम हैं। जब समाज ऋतु के अनुसार गीत गाता और नृत्य करता है, तो वह प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाए रखता है।

इस प्रकार जतरा एक स्वदेशी पारिस्थितिक रणनीति के रूप में कार्य करता है। यह लोगों को प्रकृति के समय–चक्र का सम्मान करना सिखाता है, असंतुलित व्यवहार से रोकता है और सामूहिक जीवन को प्रकृति की सीमाओं के भीतर बनाए रखता है। इसलिए जतरा केवल सांस्कृतिक आयोजन नहीं, बल्कि उरांव समाज में पर्यावरण संरक्षण और सतत जीवन–पद्धति का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

धार्मिक अनुष्ठानों का एक महत्वपूर्ण सामाजिक पक्ष यह भी है कि वे सामूहिक अनुशासन को मजबूत करते हैं। जब पूरा समाज यह मानता है कि देवी की निगरानी में जतरा हो रहा है, तो लोग झगड़े, नशा या अव्यवस्था से बचने का प्रयास करते हैं। इस तरह धार्मिक विश्वास सामाजिक शांति बनाए रखने का प्रभावी माध्यम बन जाता है।

जतरा से जुड़ा पिंजरा डांग भी गहरे प्रतीकात्मक अर्थ रखता है। बाँस का उपयोग प्रकृति और जीवन से जुड़ा हुआ है, क्योंकि बाँस उरांव समाज में शक्ति, लचीलापन और जीवन–ऊर्जा का प्रतीक माना जाता है। बाँस के ऊपरी सिरे पर पिंजरे में जलाया गया दीप अंधकार पर प्रकाश की विजय का संकेत देता है। यह दीप न केवल भौतिक प्रकाश प्रदान करता है, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक सुरक्षा का भी प्रतीक होता है।[10]

दीप का लगातार जलते रहना यह दर्शाता है कि देवी की कृपा बनी हुई है और समुदाय सुरक्षित है। यदि दीप बुझ जाए, तो इसे अशुभ संकेत माना जाता है और लोग सतर्क हो जाते हैं। इस विश्वास के माध्यम से समाज में सावधानी और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। लोग मिलकर दीप की रक्षा करते हैं, जिससे सामूहिक सहभागिता और अनुशासन मजबूत होता है।

---

[8] तिरकी, भीखू, उरांव–सरना धर्म और संस्कृति, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 246

[9] तिरकी, भीखू, उरांव–सरना धर्म और संस्कृति, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 247

[10] तिरकी, भीखू, उरांव–सरना धर्म और संस्कृति, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 249

इस प्रकार जतरा की धार्मिक आस्था और अनुष्ठानिक परंपराएँ केवल पूजा–पाठ तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे उरांव समाज में सामाजिक नियंत्रण, सामूहिक शांति, नैतिक व्यवहार और सामुदायिक एकता को बनाए रखने की एक सशक्त सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में कार्य करती हैं।

लोकगीत और स्वदेशी ज्ञान प्रणाली

जतरा के लोकगीत उरांव समाज की स्वदेशी ज्ञान प्रणाली का महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ये गीत प्रकृति, श्रम, प्रेम, विरह, प्रवासी जीवन और सामाजिक संबंधों को अभिव्यक्त करते हैं। पक्षियों की चहचहाहट, नदियों की कलकल, जंगलों की शीतल हवा और खेतों की हरियालीकृये सभी गीतों की प्रेरणा बनते हैं। गीतों के माध्यम से समाज अपनी अनुभूतियों और ज्ञान को सहज रूप में अभिव्यक्त करता है।

प्रवासी जीवन से जुड़े गीतों में बाहर गए भाई या साजन की अनुपस्थिति का दर्द झलकता है। ये गीत आर्थिक पलायन की विवशता और उत्सव के समय परिवार के साथ रहने की इच्छा को प्रकट करते हैं। स्त्री–केन्द्रित गीतों में झुटिया, अंगूठी और गुँजी जैसे आभूषण स्त्री की पहचान, आत्मसम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में उभरते हैं। इस प्रकार जतरा गीत सामाजिक यथार्थ और सांस्कृतिक मूल्यों का सशक्त माध्यम बन जाते हैं।

लोकगीत– जतरा बुलावा गीत

लोकगीत

जतरा आ गेला हो साजनी,
अखाड़ा सजे आज।
मांदर बाजे ढोल हँसे,
नाचे गाँव समाज।
आ जा भइया, आ जा बहना,
छोड़ के सारा काम।
जतरा खेले बिना रे साजनी,
सूना लागे धाम।[11]

व्याख्या

यह लोकगीत जतरा के सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। इसमें पूरे गाँव को सामूहिक रूप से उत्सव में भाग लेने का आमंत्रण दिया गया है। "अखाड़ा सजे आज" पंक्ति यह दर्शाती है कि अखाड़ा केवल नृत्य का स्थान नहीं, बल्कि सामुदायिक जीवन का केंद्र है। गीत में भाई–बहन को बुलाना यह बताता है कि जतरा पारिवारिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर सहभागिता का उत्सव है। काम छोड़कर जतरा में आना इस बात का संकेत है कि समाज में सामूहिक आनंद को विशेष महत्व दिया जाता है।

ऋतु और प्रकृति गीत

लोकगीत

आषाढ़–सावन मेघा बरसे,
धरती ओढ़े चादर।
नदी हँसे, पंछी बोले,
जागे जंगल सागर।
ऋतु का गीत ऋतु में गाओ,
यही पुरखों की सीख।
असमय गाना बिगाड़े जग,
डोले धरती–नीक।[12]

---

[11] तिरकी,भीखू ,उरांव–सरना धर्म और संस्कृति ,राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 251

[12] तिरकी,भीखू ,उरांव–सरना धर्म और संस्कृति ,राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 253

व्याख्या

यह लोकगीत उरांव समाज की पर्यावरणीय चेतना को प्रकट करता है। ऋतु के अनुसार गीत गाने की परंपरा प्रकृति के संतुलन से जुड़ी है। "पुरखों की सीख" यह दर्शाती है कि पर्यावरणीय ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी लोकगीतों के माध्यम से आगे बढ़ता है। यह गीत संस्कृति को प्रकृति–संरक्षण का माध्यम बनाता है।

पर्यावरण संरक्षण गीत

लोकगीत

जंगल काटे तो क्या बचेगा,
सूखी होगी धार।
पेड़ बचे तो गीत बचेगा,
जतरा, खेत, त्यौहार।
धरती माई सबकी जननी,
रखियो इसका मान।
जतरा सिखावे जीवन राह,
प्रकृति से पहचान।

व्याख्या

यह लोकगीत पर्यावरण संरक्षण का स्पष्ट संदेश देता है। जंगल और पेड़ को संस्कृति से जोड़कर देखा गया है। गीत यह बताता है कि यदि प्रकृति नष्ट होगी, तो गीत, जतरा और त्यौहार भी समाप्त हो जाएंगे। इस प्रकार लोकगीत पर्यावरणीय चेतना को समाज में गहराई से स्थापित करते हैं।

जतरा और सामुदायिक अनुशासन

जतराओं का आयोजन पारंपरिक रूप से पड़हा पंचायत के निर्णय के अनुसार होता है। तिथियों और स्थानों का निर्धारण सामूहिक सहमति से किया जाता है। इससे पूरे क्षेत्र में जतराओं का एक क्रम बनता है और सामाजिक संतुलन बना रहता है। किसी एक स्थान पर अत्यधिक भीड़ या अव्यवस्था न हो, इसका ध्यान भी इसी व्यवस्था के माध्यम से रखा जाता है। इस प्रकार जतरा सामाजिक अनुशासन और सामुदायिक प्रशासन का भी माध्यम बन जाता है।[13]

आधुनिक परिवर्तन और चुनौतियाँ

आधुनिक संचार साधनों, शिक्षा और आर्थिक परिवर्तनों के कारण जतराओं की भूमिका में कुछ बदलाव आए हैं। अब सामाजिक संपर्क के लिए जतराओं पर पूर्ण निर्भरता नहीं रही। समय और संसाधनों की बढ़ती आवश्यकता के कारण बार–बार जतराओं का आयोजन कुछ लोगों को बोझिल लगने लगा है। शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के लिए धन और समय का महत्व बढ़ गया है। इन परिस्थितियों में कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने जतराओं को संगठित और सीमित करने का प्रयास किया, ताकि परंपरा और आधुनिक जीवन के बीच संतुलन बना रहे।

इन प्रयासों का उद्देश्य जतराओं को समाप्त करना नहीं, बल्कि उन्हें समयानुकूल बनाना था। इससे यह स्पष्ट होता है कि उरांव समाज अपनी परंपराओं को स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील मानता है, जो समय के साथ परिवर्तित होती रहती हैं।

निष्कर्ष

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि जतरा उरांव समाज की जीवनदायिनी सांस्कृतिक संस्था है। यह केवल उत्सव नहीं, बल्कि सामाजिक एकता, धार्मिक आस्था, पर्यावरणीय संतुलन और स्वदेशी ज्ञान प्रणाली का समन्वित रूप है। जतरा के माध्यम से समाज अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को जीवित रखता है, प्रकृति के साथ संतुलित संबंध बनाए रखता है और सामूहिक चेतना को सुदृढ़ करता है। आधुनिक परिवर्तनों के बावजूद जतरा आज भी उरांव समाज की सांस्कृतिक पहचान और आत्मा का प्रतीक बना हुआ है। इसलिए जतरा का संरक्षण और अध्ययन न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से, बल्कि पर्यावरणीय और सामाजिक स्थिरता के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

---

[13] तिरकी, भीखू, उरांव–सरना धर्म और संस्कृति, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011, पृ. 253

14,जियाउद्दीन, बिहार के आदिवासी, मोतीलाल बनारसीदास,पृष्ठ संख्या 103

ग्रामीण संस्कृति पर वैश्वीकरण का प्रभाव

रवि प्रकाश सिंह*

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। भारत की आत्मा उसके गाँवों में बसती है और ग्रामीण संस्कृति ही भारतीय समाज की वास्तविक पहचान है। यह संस्कृति न केवल सामाजिक संरचना की जड़ें मजबूत करती है, बल्कि जीवन के हर पहलू को सहज, सरल और सामूहिक बनाती है। ग्रामीण संस्कृति एक परंपरागत, मूल्यपरक और प्राकृतिक परिवेश में विकसित जीवन पद्धति है जो पीढ़ियों से चली आ रही है।

मानव समाज एक निरंतर परिवर्तनशील इकाई है, जिसमें समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों में सबसे प्रमुख और समकालीन प्रभावशाली प्रक्रिया है– वैश्वीकरण। वैश्वीकरण ने न केवल विश्व अर्थव्यवस्था, राजनीति और तकनीक को प्रभावित किया है, बल्कि उसने समाज की परंपरागत संरचनाओं, जीवनशैली, मूल्यों और सांस्कृतिक व्यवस्था को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। यह प्रभाव विशेषतः उन समाजों में अधिक दृष्टिगोचर होता है जो अपने पारंपरिक ढांचे और सांस्कृतिक मूल्यों में रचे–बसे होते हैं, जैसे भारत का ग्रामीण समाज।

ग्रामीण संस्कृति :

ग्रामीण संस्कृति से तात्पर्य उस सांस्कृतिक ढाँचे और जीवन शैली से है, जो गाँवों में निवास करने वाले लोगों द्वारा अपनाई जाती है। इसमें उनकी सोच, रहन–सहन, पहनावा, परंपराएं, आस्था, भाषा, मूल्य, रीति–रिवाज आदि शामिल होते हैं। यह संस्कृति प्रकृति के निकट होती है और इसमें सहकारिता, धार्मिकता, सामूहिकता और आत्मनिर्भरता जैसे गुण पाए जाते हैं।

'ग्रामीण संस्कृति' एक ऐसी सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था है, जो गाँवों में रहने वाले लोगों की जीवनशैली, परंपराओं, मूल्यों, विश्वासों और सामूहिक आचरण को अभिव्यक्त करती है। इसमें मनुष्य और प्रकृति के मध्य घनिष्ठ संबंध, पारंपरिक ज्ञान, कृषि आधारित अर्थव्यवस्था, संयुक्त परिवार, लोक परंपराएं, लोक भाषा और सामाजिक सहयोग की भावना प्रमुख होती है।

भारतवर्ष एक बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी और विविधता से भरपूर राष्ट्र है, जिसकी आत्मा उसके गाँवों में बसती है। भारतीय ग्रामीण समाज न केवल जनसंख्या की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि उसकी सांस्कृतिक संरचना, जीवनशैली, रीति–रिवाज और मूल्यों के कारण भी यह अत्यंत समृद्ध और अनोखा है। यह ग्रामीण संस्कृति हजारों वर्षों से परंपराओं, धार्मिक विश्वासों, सामाजिक समरसता और नैतिकता की नींव पर आधारित रही है। यह प्रस्तावना इसी ग्रामीण संस्कृति की विवेचना, उसकी विशेषताओं, समस्याओं और वर्तमान सामाजिक परिवर्तनों के आलोक में लिखी गई है।

ग्रामीण संस्कृति भारत की आत्मा है। इसमें जीवन की सरलता, नैतिकता और प्राकृतिकता का समावेश है। यह संस्कृति केवल परंपराओं की वाहक नहीं है, बल्कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जो समाज को सामूहिक रूप से आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। अतः हमें इस संस्कृति को संरक्षित करने की आवश्यकता है, ताकि भावी पीढ़ी भी इसकी सुंदरता और महत्व को समझ सके।

एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार, "ग्रामीण संस्कृति एक ऐसी सामाजिक संरचना है, जिसमें परंपरा, जाति, पंचायत, परिवार और धार्मिकता मिलकर जीवन को नियंत्रित करते हैं। यह संस्कृति स्थानीय जीवन के अनुभवों पर आधारित होती है।"

जी. एस. घुर्ये के अनुसार, "ग्रामीण संस्कृति भारतीय सभ्यता की मूल आत्मा है, जिसमें पारंपरिक रीति–रिवाज, धार्मिक आस्था और सामाजिक नियंत्रण की स्पष्ट झलक मिलती है।"

डॉ. डी. एन. मजूमदार का कथन है, "ग्रामीण संस्कृति सामाजिक समरसता, सहयोग, धार्मिकता और परंपराओं पर आधारित होती है, जो सामाजिक जीवन को संतुलन प्रदान करती है।"

एम.एस. राव के अनुसार, "ग्रामीण संस्कृति वह संरचना है जो समाज के आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक और नैतिक पक्षों को एकजुट करती है, और सामूहिक हित के लिए कार्य करती है।"

---

* शोध–छात्र, समाजशास्त्र–विभाग, श्री गणेश राय स्नातकोत्तर महाविद्यालय डोभी, जौनपुर (उ०प्र०)

वैश्वीकरण का अर्थ :–

वैश्वीकरण का शाब्दिक अर्थ है 'संपूर्ण विश्व का एकीकृत हो जाना'। यह एक बहु–आयामी प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न देश आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक स्तर पर एक–दूसरे से जुड़ते हैं। सूचना तकनीक, संचार क्रांति, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, मीडिया और इंटरनेट की भूमिका ने इस प्रक्रिया को तीव्र किया है।

वैश्वीकरण एक जटिल आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रक्रिया है। समाजवैज्ञानिकों की दृष्टि में वैश्वीकरण की प्रक्रिया समय और दूरी का राष्ट्र–राज्य से आगे संकुचन उत्पन्न करती है। वैश्वीकरण के वर्तमान धारा का उदारीकरण और निजीकरण से अभिन्न संबंध है। यह पूंजी, श्रम, उत्पाद, प्रौद्योगिकी और सूचना के जरिए आधुनिकीकरण, राष्ट्र–निर्माण एवं राष्ट्रों के बीच गठबंधन निर्माण के साथ ही उत्पन्न हो रही है। इसे सूचना तकनीकी एवं जैव प्रौद्योगिकी में हो रहे क्रांतिकारी परिवर्तनों से गति मिलती है। इसमें प्रतियोगिता, दक्षता, बेहतर उत्पादकता एवं प्रौद्योगिक तरक्की के जरिए प्रगति की भी संभावना है। वैश्वीकरण राष्ट्र–राज्य की सीमाओं को लांघता है। यह सामानों, उत्पाद के प्रवाह, पूंजी, सूचना, विचार प्रतिमानों और खतरों को राष्ट्र–राज्य की सीमाओं और राजनीतिक संस्थाओं से ऊपर उठकर सामाजिक नेटवर्क और राजनीतिक संस्थाओं के साथ सम्बद्ध करने वाली एक प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में नए स्थान और समय में संस्कृतियों और समुदायों के एकीकरण और उसे जोड़ने वाले तथा दुनिया को अंतर्सम्बंधित बनाने वाले अर्थ में वैश्वीकरण को देखा जा सकता है।

वैश्वीकरण के बारे में विभिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत हैं। इन्हें मुख्य रूप से तीन कोटियों में विभक्त करके देखा जा सकता है –

कुछ विद्वान मानते हैं कि वैश्वीकरण कोई नयी प्रक्रिया नहीं है। उपनिवेशवाद के आरम्भ होने के साथ–ही–साथ वैश्वीकरण की प्रक्रिया भी आरंभ हो गयी थी। दुनिया में सत्रहवीं शताब्दी में साम्राज्यवाद की एक नीति के रूप में उपनिवेशवाद आरंभ हो गया था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, पुर्तगाल जैसे अनेक देशों ने यूरोप तथा एशिया सहित दुनिया के तमाम देशों को अपनी कॉलोनी बना लिया था। उपनिवेशवाद के अधीन देशों (कॉलोनियों) से कच्चा माल (Raw materials) उपनिवेशवादी देशों में जाया करता था, इससे औद्योगिक उत्पादन होता था और उत्पादित माल पुनः खपत (बिक्री) हेतु उन्हीं कॉलोनियों में आया करते थे। इस प्रक्रिया में विश्व के बाजारों के एकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। दुनिया के विभिन्न देश निकट आए। विश्व अर्थ–व्यवस्था का एकीकरण आरम्भ हुआ। यद्यपि इसमें एकीकरण की प्रकृति कुछ भिन्न थी। इस प्रकार उपनिवेशवाद के आरंभ के साथ–साथ वैश्वीकरण का भी आरंभ हो गया।

विद्वानों की एक दूसरी कोटि है, जो उक्त विचारों से सहमत नहीं है। इस कोटि के विद्वान मानते हैं कि आधुनिक युग के विकास का मुख्य परिणाम दुनिया का एकीकरण था। अतः वैश्वीकरण की जड़ें आधुनिकता में विद्यमान रही हैं। ये आधुनिकीकरण के अगले चरण के रूप में वैश्वीकरण को देखते हैं। इस कोटि के विद्वान आधुनिकता में आई तेजी को वैश्वीकरण के रूप में देखते हैं। वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण के बीच गहरा रिश्ता है जो संपूर्ण विश्व पर आधुनिकता के प्रभावों के विस्तार के माध्यम से दुनिया को संकुचित कर रहा है अथवा नजदीक ला रहा है। प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के परिणामस्वरूप सूचना प्रौद्योगिकी (I.T.) में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, जिसकी वजह से वैश्वीकरण को गति तथा ऊर्जा प्राप्त हो रही है। इस प्रकार से इस कोटि के विद्वान आधुनिकता में आई तेजी को वैश्वीकरण के रूप में देखते हैं।

विद्वानों की एक तीसरी कोटि है, जो उक्त दोनों विचारों से सहमत नहीं हैं। इस कोटि के विद्वान वैश्वीकरण को एक नयी अवधारणा के रूप में स्वीकार करते हैं। यह मानते हैं कि यद्यपि वैश्वीकरण पूर्णतया एक नई प्रक्रिया नहीं है, तथापि इसे उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण के सादृश्य भी नहीं माना जा सकता है। इस कोटि के विद्वान मानते हैं कि 1980 के दशक से द्विआयामी विश्व का परिदृश्य बदलने लगा। संयुक्त सोवियत संघ के विघटन के बाद से एक ऐसे अनियंत्रित पूंजीवाद का विकास हुआ, जिसे कोई चुनौती देने वाला नहीं रहा। परिणामस्वरूप एक आयामी विश्व प्रभावी हो गया। पूंजीवाद ने विश्व के मानचित्र पर अभूतपूर्व सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत किया। इस नवीन परिवर्तित व्यवस्था के साथ अपने को पुनर्समायोजित करने का दुनिया ने प्रयास किया।

वैश्वीकरण के आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि विविध आयाम हैं। ये सभी आपस में अंतर्सम्बंधित तथा परस्पर निर्भर हैं। इनमें से किसी एक आयाम का स्वतंत्र मूल्यांकन मात्र आंशिक

अथवा एकांगी पक्ष को उद्घाटित करता है। इसका सम्यक् मूल्यांकन समग्रता तथा सभी आयामों का समावेश की वकालत करता है। तथापि आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक वैश्वीकरण के अर्थ को स्पष्ट करना समाजविज्ञान की मांग है।

वैश्वीकरण की परिभाषा :

वैश्वीकरण एक नयी जटिल अवधारणा है। अभी तक इसकी सर्वमान्य परिभाषा का अभाव है। इसकी कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :

थॉमस फ्राइडमैन के अनुसार वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इसमें विश्व का मध्यम से छोटे रूप में ऐसा संकुचन हो रहा है, जिससे हम दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक इतनी जल्दी और सस्ते में पहुंच जाए, जितने में पहले कभी संभव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भांति यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीति, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी संबंधों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।

राबर्ट्सन ने वैश्वीकरण को एक ऐसी अवधारणा के रूप में परिभाषित किया है, जो दुनिया का दबाव और दुनिया की चेतना के तीव्रीकरण दोनों से संयुक्त रूप से संबंधित है।

रवि प्रकाश पाण्डेय के अनुसार, वैश्वीकरण, अंतर्वेशन और बहिष्करण की एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें विश्व बाजार, विभिन्न आर्थिक–सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, मल्टीमीडिया, प्रौद्योगिकी, संस्कृति आदि के एकीकरण का अंतर्वेशन हो रहा है; जबकि राष्ट्र–राज्य की प्रभुसत्ता और स्वदेशीयता आदि का बहिष्करण हो रहा है।

एंथनी गिडेन्स के अनुसार, दुनिया के स्तर पर सामाजिक संबंधों तथा बहुत तीव्रीकरण जो दूरस्थ क्षेत्रों को इस प्रकार से जोड़ता है, जिससे स्थानीय गतिविधियों तथा बहुत अधिक किलोमीटर दूर की घटनाओं द्वारा एक दूसरे को स्वरूप प्रदान किया जाता है।

स्टुअर्ट हाल के अनुसार, नए स्थान और समय में संस्कृतियों और समुदायों के एकीकरण और उसे जोड़ने वाले तथा दुनिया को एक वास्तविकता और अधिकाधिक अंतर्सबंधित बनाने वाले अर्थ में वैश्वीकरण को देखा जा सकता है।

ग्रामीण संस्कृति पर वैश्वीकरण का प्रभाव :

वैश्वीकरण ने भारतीय ग्रामीण संस्कृति को गहराई से प्रभावित किया है। इसके प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रहे हैं–

1. सकारात्मक प्रभाव :

- **शिक्षा और जागरूकता :** इंटरनेट और डिजिटल तकनीक के माध्यम से ग्रामीणों की दुनिया भर की जानकारी तक पहुँच बढ़ी है।
- **आर्थिक अवसर :** ई–कॉमर्स और डिजिटल प्लेटफॉर्म के जरिए ग्रामीण कारीगर और किसान अपने उत्पादों को सीधे अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में बेच पा रहे हैं।
- **जीवन स्तर में सुधार :** आधुनिक सुख–सुविधाओं, बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं और परिवहन के साधनों ने ग्रामीण जीवन को सरल बनाया है।

2. नकारात्मक प्रभाव :

- **सांस्कृतिक क्षरण :** पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में पारंपरिक लोक गीत, नृत्य और स्थानीय बोलियां कम हो रही हैं। युवा पीढ़ी अपनी जड़ों से दूर हो रही है।
- **संयुक्त परिवारों का टूटना :** शहरीकरण और रोजगार की तलाश में पलायन के कारण पारंपरिक 'संयुक्त परिवार' (Joint Family) टूट रहे हैं और एकल परिवार बढ़ रहे हैं।
- **उपभोक्तावाद :** ब्रांडेड कपड़ों और फास्ट फूड के प्रति बढ़ते आकर्षण ने ग्रामीण सादगी को प्रभावित किया है।
- **कृषि पर संकट :** वैश्वीकरण के कारण कृषि का व्यवसायीकरण हुआ है, जिससे छोटे किसान अक्सर कर्ज और विदेशी बीजों/ कीटनाशकों की निर्भरता में फंस जाते हैं।

संदर्भ सूची :

1. Friedman, Thomas, The Lexus and Olive Tree, New York; Farrarscraus Giroux, 1999, P-110.
2. Anderson, B.: Imagined Communities: Reflection on the origin and spread of Nationalism, London, Verso. 1983, P-16-17.
3. Fridman, Thomas: Globalization, The Lexus and the Olive Tree New York, Farrar Straus Giroux, 1999, P-110.
4. Nederven Pieterse, J., 'Globalization as Hybridisation', International Sociology 1994, (9)2:161-84
5. Inda, Jonathan Xavier and Renato Rosaldo: Anthropogy of Glo-balization, A Reader, Oxford, Black Well Publishers, 2002, P-2.
6. Robertson, R.: Globalization, Social Theory and Global Culture: Sage Publications. London 1998. P-8.
7. Prof. Anand Kumar: "Globalization and Poverty: Some Notes "A Research Paper for International Seminar on Globalization & Poverty; Organized by M.G. Kashi Vidya Peeth, Varanasi, 4-6 Dec, 2004. Souvenir, edited by Ravi Prakash Pandey. P-1 34.
8. Giddens, A.; The Consequences of Modernity, Stanford: Stanford University Press, 1990, P-64.
9. Inda, Jonathan Xavier and Renato Rosaldo: Anthropogy of Glo-balization, A Reader, Oxford, Black Well Publishers, 2002, P-2.
10. पाण्डेय, रवि प्रकाश; समाजशास्त्रीय सिद्धांत अभिगम एवं परिप्रेक्ष्यय शेखर प्रकाशन, चक, जीरो रोड, इलाहाबाद, 2009 पृ. 418–419.
11. श्रीनिवास, एम.एन. : Social Change in Modern India (आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन)। ग्रामीण समाज में 'पश्चिमीकरण' और 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रियाओं को समझने का आधार।
12. राव, एम.एस.ए. : Urbanization and Social Change, ग्रामीण–शहरी निरंतरता और वैश्वीकरण के कारण शहरी मूल्यों के गांवों में प्रवेश पर विस्तृत चर्चा।
13. मजूमदार, डी. एन. : Caste and Communication in an Indian Village- एशिया पब्लिशिंग हाउस। 1958.
14. घुर्ये, जी. एस. : Caste and Race in India. बॉम्बे : पॉपुलर प्रकाशन। 1963.

देवरिया जनपद में जनसंख्या घनत्व का क्षेत्रीय वितरण प्रतिरूप

सुजाता मल्ल*

मानव संसाधनों का सृजनकर्ता एवं उपभोगकर्ता दोनों है।[1] मानव के लिए उपयोगी हुए बिना कोई भी पदार्थ संसाधन हीं बन पाता।[2] किसी भी क्षेत्र के संसाधनों के समुचित उपयोग के लिए अभीष्ट जनसंख्या होना अति आवश्यक है। संसाधनों का उपयेग, संरक्षण एवं नियोजन आदि सभी जनसंख्या के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। किसी भी क्षेत्र की भौतिक एवं सास्कृतिक दशाएं वहाँ के जनसंख्या वितरण को प्रभावित करती है, प्रायः जीवन–अनुकूल दशाओं वाले क्षेत्र में अधिक जनसंख्या निवास करती है, जबकि विपरित दशाओं वाले क्षेत्र में कम जनसंख्या निवास करती है।[3] यद्यपि जनसंख्या के वितरण से सम्बन्धित अध्ययनों की लम्बी श्रृंखला है, परन्तु जिले स्तरपर क्षेत्रीय विषमताओं एव विविधताओं का अध्ययन जिला नियोजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी महत्ता को देखते हुए प्रस्तुत अध्ययन सम्पादित किया गया है।

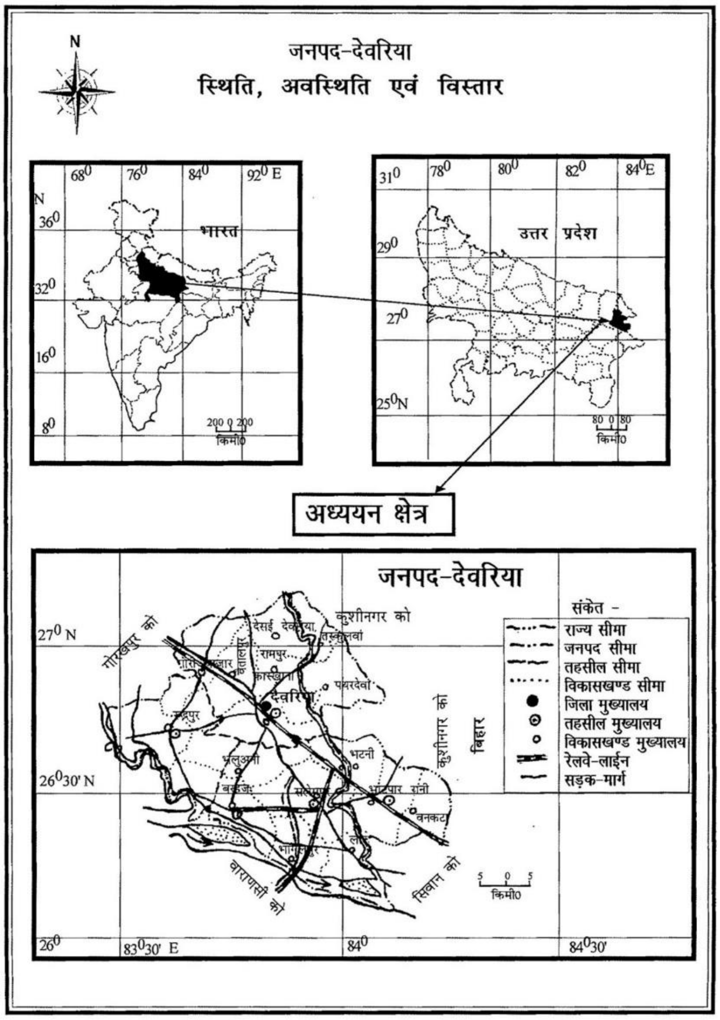

चित्र संख्या–1

* शोध छात्रा, बुद्ध पी0जी0 कालेज, कुशीनगर

अध्ययन क्षेत्र –देवरिया जनपद की भौतिक विशेषताएं

अध्ययन क्षेत्र देवरिया जनपद (उत्तर प्रदेश) की भौतिक विशेषताएँ इसके भौगोलिक स्वरूप, जलवायु, मृदा, अपवाहतंत्र तथा प्राकृतिक संसाधनों के माध्यम से स्पष्ट होती हैं। देवरिया जनपद उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित है और यह पूर्णतः गंगा घाघरा के जलोढ़ मैदान का अंग है। इसकी भौगोलिक स्थिति लगभग 26^0 से 27^0 उत्तरी अक्षांश तथा 83^0 से 84^0 पूर्वी देशांतर के मध्य पाई जाती है। जनपद का अधिकांश भाग समतल है तथा समुद्रतल से औसत ऊँचाई लगभग 70 से 90 मीटर के बीच है, जिससे यह क्षेत्र कृषि, बसावट और परिवहन के लिए अत्यंत अनुकूल बन जाता है।

देवरिया जनपद की भू–आकृतिक संरचना नवीन एवं पुरानी जलोढ़ से निर्मित है। यहाँ किसी प्रकार के पर्वत, पठार या ऊँचे टीले नहीं पाए जाते। नदियों द्वारा लाई गई जलोढ़ मिट्टी ने इस क्षेत्र को अत्यंत उपजाऊ बना दिया है। मृदा के रूप में यहाँ मुख्यतः दोमट एवं बलुई दोमट जलोढ़ मृदा पाई जाती है, जो धान, गेहूँ, गन्ना, मक्का एवं दलहन जैसी फसलों के लिए उपयुक्त है। कुछ क्षेत्रों में नदी तटों के पास नवीन जलोढ़ मिट्टी तथा आंतरिक भागों में पुरानी जलोढ़ मिट्टी मिलती है।

जलवायु की दृष्टि से देवरिया जनपद की जलवायु उष्णकटिबंधीय मानसूनी है। यहाँ ग्रीष्म ऋतु में तापमान 40–45 डिग्री सेल्सियस तक पहुँच जाता है, जबकि षीत ऋतु में तापमान 5–10 डिग्री सेल्सियस तक गिर जाता है। मानसून काल (जुलाई से सितंबर) में औसतन 100 से 120 सेमी वर्षा होती है, जो कृषि के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। वर्षा की अनियमितता के कारण कई बार बाढ़ और सूखे की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है।

देवरिया जनपद का अपवाह तंत्र मुख्यतः घाघरा नदी प्रणाली से संबंधित है। छोटी गंडक तथा अन्य छोटी नदियाँ एवं नाले इस क्षेत्र को जल प्रदान करते हैं। ये नदियाँ बाढ़ के समय उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी लाकर भूमि की उर्वरता बढ़ाती हैं, हालांकि कभी–कभी बाढ़ से फसलों को नुकसान भी होता है। प्राकृतिक वनस्पति यहाँ सीमित मात्रा में पाई जाती है, क्योंकि अधिकांश भूमि कृषि कार्यों में प्रयुक्त होती है। आम, नीम, पीपल, बरगद जैसे वृक्ष तथा नदी किनारे झाड़ीदार वनस्पति देखने को मिलती है।

उद्देश्य–

प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य अध्ययन क्षेत्र में विद्यमान भौतिक एवं मानवीय दशाओं का अध्ययन करते हुए जनसंख्या वितरण का विश्लेषण करना है। साथ ही क्षेत्र विशेष में जनसंख्या के समान वितरण हेतु उपयुक्त नियोजन प्रस्तुत करके समवितरण को प्रोत्साहन देना है। आँकड़ो का स्रोत एवं विधितंत्र–प्रस्तुत शोध प्रपत्र में द्वितीयक आँकड़ो का प्रयोग किया गया है। इस कार्य के लिए सांख्यिकीय पत्रिका देवरिया 2011 का विस्तृत अध्ययन किया गया है। आँकड़ो का अंकन, विश्लेषण एवं मानचित्रण का भी कार्य किया गया है। विधितंत्र के रूप में यहाँ क्षेत्रफल के सन्दर्भ में जनसंख्या को आधार मानकर क्षेत्रीय विविधताओं दर्शाने का प्रयास किया गया है।

घनत्व–

जनसंख्या घनत्व का अर्थ प्रतिइकाई क्षेत्र में निवास करने वाली जनसंख्या से है। जनसंख्या घनत्व के द्वारा किसी क्षेत्र की वर्तमान तथा सम्भावित, जनाभार, जनाधिक्य तथा न्यूनजनाधिक्य के निर्धारण तथा क्षेत्रीय तुलना के लिए महत्वपूर्ण मापदण्ड माना गया है। सर्वप्रथम इस प्रकार के संबंध को 1837 में हेनरीडरी द्वारा अपरलैण्ड में किया गया था। 2011 जनसंख्या के आधार पर जनपद में जनघनत्व 883 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी0 है। जबकि प्रदेश में यह 829 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी0 है, तथा देश में 382 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी0 है। इस आंकड़े से स्पष्ट है कि यह जनपद सघन बसाव वाला क्षेत्र है।

देवरिया जनपदः जनसंख्या घनत्व (वर्ष 2011)

श्रेणी	घनत्व वर्ग कि.मी.	विकासखण्डों की संख्या	विकासखण्डों के नाम
अतिउच्च	1200 से अधिक	3	देवरिया सदर, रुद्रपुर, रामपुर कारखाना
उच्च	1150–1200	4	गौरीबाजार, सलेमपुर, भटनी, भाटपाररानी
मध्यमउच्च	1100–1150	4	देसही देवरिया, बैतालपुर, लार, तरकुलवा
मध्यम	1050–1100	3	पथरदेवा, बनकटा, भागलपुर
निम्न	1050 से कम	2	भलुअनी, बरहज

स्रोत–जिला सांख्यिकी पत्रिका 2011

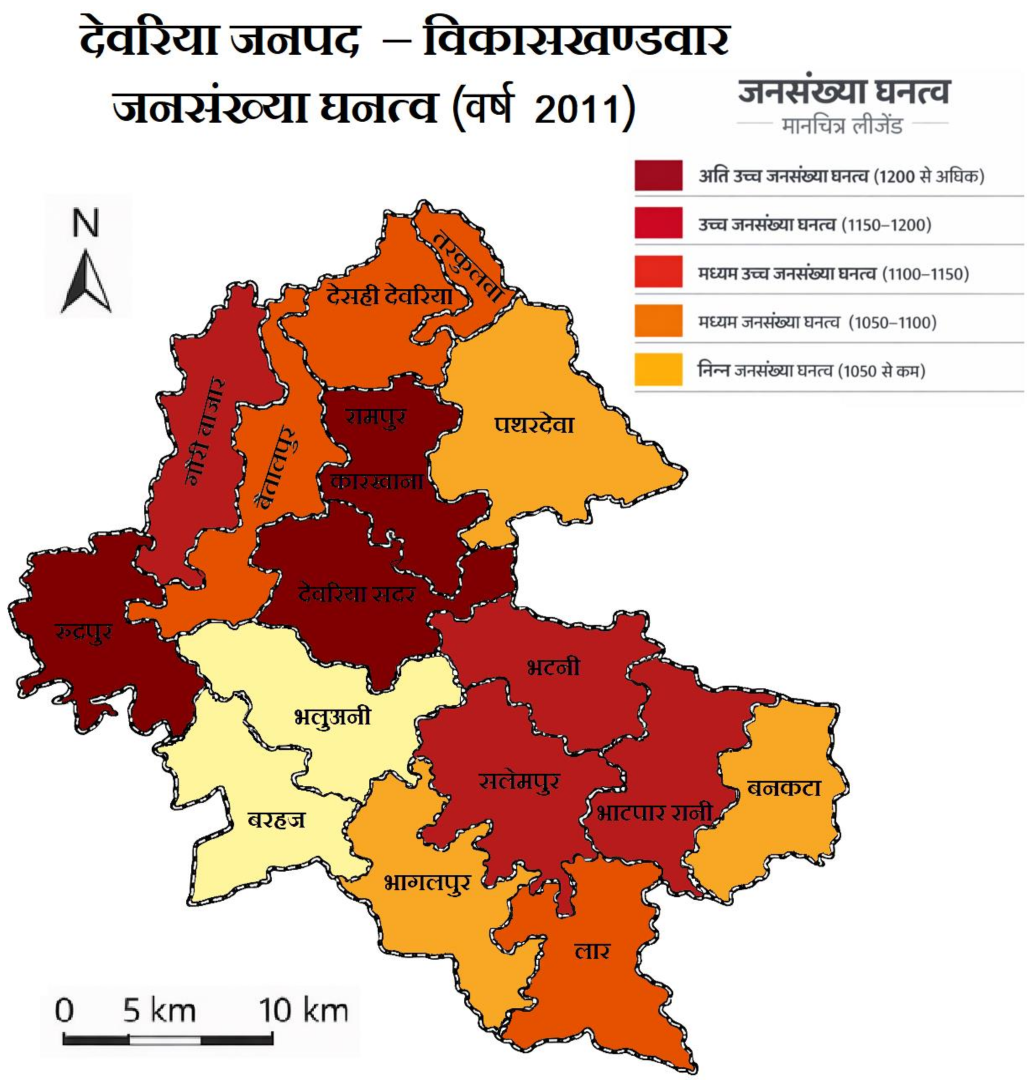

चित्र संख्या – 2

तालिका संख्या 1.1 तथा चित्र संख्या : 1.2 से स्पष्ट होता है कि देवरिया जनपद में अतिउच्च श्रेणी की जनसंख्या घनत्व के अन्तर्गत 3 विकासखण्ड सम्मिलित हैं। इसके अन्तर्गत देवरिया सदर में लगभग 1300 से अधिक, रुद्रपुर में लगभग 1280 तथा रामपुर कारखाना में लगभग 1260 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी. क्षेत्र में जनसंख्या निवास करती है। इन विकासखण्डों की स्थिति अध्ययन क्षेत्र के मध्य एवं दक्षिणी भाग में पायी जाती है, जहाँ नगरीय प्रभाव एवं परिवहन सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं।

उच्च श्रेणी की जनसंख्या घनत्व के अन्तर्गत 4 विकासखण्ड सम्मिलित हैं। इसके अन्तर्गत गौरीबाजार, सलेमपुर, भटनी तथा भाटपाररानी विकासखण्डों में 1150 से 1200 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी. के मध्य जनसंख्या निवास करती है। इन विकासखण्डों की स्थिति अध्ययन क्षेत्र के पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी भाग में पायी जाती है।

मध्यम उच्च श्रेणी की जनसंख्या घनत्व के अन्तर्गत 4 विकासखण्ड सम्मिलित हैं। इसके अन्तर्गत देसही देवरिया, बैतालपुर, लार तथा तरकुलवा विकासखण्डों में 1100 से 1150 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी. के मध्य जनसंख्या निवास करती है। इनकी स्थिति अध्ययन क्षेत्र के उत्तरी, उत्तर–पूर्वी एवं मध्य भाग में पायी जाती है।

मध्यम श्रेणी की जनसंख्या घनत्व के अन्तर्गत 3 विकासखण्ड सम्मिलित हैं। इसके अन्तर्गत पथरदेवा, बनकटा तथा भागलपुर विकासखण्डों में 1050 से 1100 व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी. क्षेत्र में जनसंख्या निवास करती है। इन विकासखण्डों की स्थिति अध्ययन क्षेत्र के पश्चिमी एवं उत्तर–पश्चिमी भाग में पायी जाती है।

निम्न श्रेणी की जनसंख्या घनत्व के अन्तर्गत 2 विकासखण्ड सम्मिलित हैं। इसके अन्तर्गत भलुअनी तथा बरहज विकासखण्डों में 1050 से कम व्यक्ति प्रतिवर्ग किमी. क्षेत्र में जनसंख्या निवास करती है। इन विकासखण्डों की स्थिति अध्ययन क्षेत्र के उत्तरी एवं नदी–तटीय भाग में पायी जाती है, जहाँ कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था एवं नगरीय प्रभाव अपेक्षाकृत कम है।

निष्कषर्तः यह कहा जा सकता है कि क्षेत्र मे जनसंख्या घनत्व में अत्यधिक असमानता है। जिन भागों में कृषि योग्य भूमि, शैक्षणिक संस्थान, स्वास्थ्य सुविधाओं का विकास, रेल एवं सड़क परिवहन मार्ग का विकास आदि हुआ है, वहॉ जन घनत्व अधिक है। किन्त जिन भागों में उपरोक्त अवस्थापनात्मक तत्वों का विकास नही हुआ है ,वहॉ जनघनत्व कम है। जनपद में जनघनत्व औसत से भी अधिक है। अतः जनसंख्या में गुणात्मक विकास हेतु रोजगारपरक क्रियाकलापों का विकास संविकास की दृष्टि से आवश्यक है।

References:

Chanddana, R.C. and Siddhu, M. S. (1980): Introduction to population Geography, New Delhi, P.17.
Clark, John,(1973): Population Geography : Pergamon press, Oxford, Second Edition, P.14.
Gosal, G.S.(1985): Literacy of India, An Interpretative study, Rural Sociology, Vol.129.
यादव, हीरालाल, जनसंख्या भूगोल, बसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर।
मौर्य, एस0डी0 (2015): जनसंख्या भूगोल, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज, पृष्ठ सं0 96।
जिला सांख्यिकी पत्रिका (2011), देवरिया।

◀◀ ▶▶

मीरजापुर क्षेत्र की धार्मिक परम्परा

प्रभाश दूबे*

मीरजापुर क्षेत्र की धार्मिक इतिहास की परम्परा अनेक विविधताओं से भरी है। यहॉ के निवासियों के बौद्धिक विकास के साथ धार्मिक भावनाओं के क्रम में प्रकृतिवाद, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, सर्वेश्वरवाद आदि अवस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

प्रकृति पूजा :–

मीरजापुर क्षेत्र के आदि धर्म के रूप में प्रकृतिवाद को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है। यहॉ के निवासियों की धर्म भावना प्रकृति के अखण्ड साहचर्य से प्रभावित थी और उसका क्षेत्र आरम्भ में प्रकृति पूजा से लेकर भूतवाद तक विस्तृत था। प्रागैतिहासिक मानव के धार्मिक भावनाओं के संकेत शैल चित्रों में दिखाई पड़ता है। इसका प्रमुख उदाहरण सोरहोघाट से प्राप्त एक स्त्री द्वारा पूजा–नृत्य करने का दृश्य–चित्र है। अनेक साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि उस समय मानव पशुओं तथा वन की विशिष्ट देवी–देवताओं की पूजा करता था। जैसे– लिखनिया में ही सूर्य या चन्द्रमा के चित्र का साक्ष्य देखा गया है। इस क्षेत्र से प्राप्त स्वास्तिक के चिन्ह, हथेली के थापे, चौक तथा वेदिका के चित्र भी उस समय के मानव के धार्मिक भावनाओं का द्योतक है।

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल का मानव पूजा में रूचि लेता था और ईश्वरीय सत्ता का भी आभास था तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि धर्म भावना की अनुयायी वन्यजातियॉ आज भी लगभग उसी रूप में यहॉ पाई जाती हैं तथा इन वन्यजातियों के प्रकृति पूजा का प्रभाव बाहर से आकर बसने वाले लोगों पर भी पड़ा रहा होगा। फलतः सूर्य, चन्द्र, नदी, पर्वत एवं अनेक प्रकार के वृक्षों व पशुओं आदि की पूजा करने की जो प्रथा प्राचीनकाल में प्रारम्भ हुई, वह आज भी निरन्तर चली आ रही है। उदाहरणस्वरूप, पीपल, तुलसी, वटवृक्ष, नीम आदि की पूजा।

शक्ति–पूजा :–

मीरजापुर क्षेत्र में शक्ति (देवी) पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है, शक्ति को नारी के रूप में अभिव्यक्त किया गया है, जिसमें उनके दिव्य स्वरूप को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान अभूतपूर्व है, शक्ति की प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती हैं जो जगज्जननी कही जाती हैं।

मीरजापुर क्षेत्र भी प्राचीनकाल से ही शक्ति एवं शिव साधना का केन्द्र रहा है। बेलन घाटी में लोहंदा नाला से प्राप्त अस्थि निर्मित उपकरण (जिसे विद्वानों ने मातृ देवी कहा है) को यदि मातृ देवी मान लिया जाय तो इस क्षेत्र में भी शक्ति की पूजा की उपासना की प्राचीनता को प्रागैतिहासिक काल तक मानी जा सकती है। मीरजापुर क्षेत्र में मातृ देवी के रूप का चित्र शैलाश्रयों में बड़ी मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। इस मातृ देवी के चित्र को पुरातत्वविद् राकेश तिवारी मछली मारने की कटिया ''हारपून'' मानते हैं, परन्तु ऐसा माना जा सकता है कि ये चित्र नारी अथवा मातृ देवी की महत्ता को ही प्रतिबिम्बित करती हैं।

शक्ति पूजा के रूप में मीरजापुर के लोग साहित्य में विन्ध्यवासिनी देवी का सर्वत्र उल्लेख किया गया है। कहा जा सकता है कि मीरजापुर की प्रसिद्ध ''कजली'' का आविर्भाव कज्जलादेवी (विन्ध्यवासिनी देवी का दूसरा नाम) के नाम पर हुआ है। मॉ विन्ध्यवासिनी के धाम में झरोखे से दर्शन कर कजली टीका लगाने की परम्परा इसका एक जीवित उदाहरण है।

शिव पूजा :–

मीरजापुर जनपद में शक्ति के साथ–साथ शिव की पूजा भी पौराणिक काल से ही प्रचलित है। शक्ति एवं शिव की एकात्मकता स्वयं सिद्ध है, इस क्षेत्र में शिव पूजा के पुरातात्विक साक्ष्य आद्यैतिहासिक काल से मिलते हैं। राजा नल का टीला के उत्खनन से प्राप्त शिवलिंग तथा अर्घा इसके प्रमुख उदाहरण हैं, इसके अतिरिक्त मीरजापुर नगर में स्थित ''तारकेश्वरनाथ'' ''लक्ष्मीकुण्ड'' तथा ''नारघाट'' प्रमुख हैं। मीरजापुर

* शोध छात्र, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सल्तनत बहादुर पी.जी. कॉलेज, बदलापुर, जौनपुर सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

नगर में स्थित ''नारघाट'' पूर्व में कभी नारायण घाट के नाम से जाना जाता था तथा पुराणों में यहाँ श्रीनारायणजी द्वारा कमल से शिवजी की पूजा करने का उल्लेख मिलता है।

सूर्य पूजा :–

भारतीय हिन्दू समाज में सूर्य की उपासना ऋग्वैदिक युग से ही होती है, जिनका ऋग्वैदिक नाम ''सविता'' है। ऋग्वैदिक काल में सूर्य जगत के जंगम एवं स्थावर जीवों की आत्मा थे, वे सात घोड़ों के रथ पर सवार रहते थे और जगत को प्रकाशित करते थे।

मीरजापुर क्षेत्र में लिखनिया के प्रागैतिहासिक शिलाचित्रों में सूर्य और चन्द्र का प्राकृतिक चित्र देखा गया है परन्तु इसके अतिरिक्त हमें इस क्षेत्र में सूर्य पूजा के तत्कालीन या उसके बाद गुप्तकाल तक कोई साक्ष्य नहीं मिलता। चुनार से प्राप्त गुप्तकालीन सूर्य प्रतिमा इस क्षेत्र के तत्कालीन सूर्य पूजा को प्रमुख रूप से प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मीरजापुर क्षेत्र सहित विन्ध्य–गांगेय क्षेत्र की सांस्कृतिक विकास में इस प्रकार की पूजा पद्धतियों की अनेक महत्वपूर्ण भूमिका रही है तथा इस क्षेत्र में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के पूजा पद्धतियों में अनेक प्रकार की साम्यताएं देखने को मिलती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

संकालिया, एच०डी० : प्री हिस्ट्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, 1963
सरकार, डी०सी० : ज्योग्राफी ऑफ ऐशिमेंट मेडियल इण्डिया, वाराणसी, 1962
स्टेफन, फक्स : द गौड्स एण्ड ब्रूमिया ऑफ ईस्टर्न मण्डल, बाम्बे, 1960
स्मिथ, बी०ए० : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, फोर्थ एडिशन, आक्सफोर्ड, 1924
सिन्हा, बी०पी० : (सं०) पॉटरीज इन ऐशिमेंट इण्डिया, पटना यूनिवर्सिटी, पटना, 1969
सिंह, बीरेन्द्र प्रताप : अर्ली फार्मिंग कम्यूनिटीज ऑफ द कैमूर, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 2004
सिंह, आर० एल० : इण्डिया–ए रिजनल ज्योग्रॉफी, द नेशनल ज्योग्रॉफिकल, सोसायटी ऑफ इण्डिया, बी०एच०यू० वाराणसी, 1971
सिंह, बी०आर० : लैण्ड यूज पैटर्न्स इन मिर्जापुर एण्ड इनवायर्स, बी०एच०यू०, वाराणसी, 1970
हटिंगटन, एस०एल० : दी पाल सेन स्कूल ऑफ स्कल्पचर्स, लंदन, 1984
हसनैन, नदीम : ट्राइबल इण्डिया टुडे, हरनाम पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1988

उपभोक्तावादी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव : एक अध्ययन

आरती कुमारी*

शोध सार -

उपभोक्तावादी संस्कृति ने व्यक्ति विशेष को गहराई तक प्रभावित किया है। व्यक्ति इसके चमक-दमक और आकर्षण से बच नहीं पाया है। व्यक्ति चाहता है कि वह अधिकाधिक सुख-साधनों का प्रयोग करे। इसी आकांक्षा में वह वस्तुओं की गुणवत्ता पर ध्यान दिए बिना उत्पाद के वश में हो गया है पभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव परोक्ष है इससे प्रभावित होकर हमारे चरित्र में बहुत से परिवर्तन आ रहे हैं। यह संस्कृति अधिकाधिक उपभोग को बढ़ावा देती है। पश्चिमी जीवन शैली को बढाने वाली तथा दिखावा प्रधान होने के कारण विशिष्ट जन इसे अपनाते हैं और महँगी वस्तुओं के उपयोग को प्रतिष्ठा का प्रतीक मानते हैं।

विशिष्ट शब्द - उपभोग, गुणवता, उपभोक्ता, चमक-दमक, संस्कृति नैतिक आदि

उपभोक्ता संस्कृति में सबसे बड़ा खतरा है अत्यधिक भोग-विलास और संसाधनों का अंधाधुंध उपयोग, जिससे पर्यावरण प्रदूषण, प्राकृतिक संसाधनों की कमी और सामाजिक असमानता बढ़ती है। यह संस्कृति लोगों को केवल वस्तुओं की खरीदारी और उपभोग की ओर प्रेरित करती है, जिससे नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास होता है।भारतीय संस्कृति पर आधुनिकता का प्रभाव गहरा और बहुआयामी रहा है, जिसने परंपरा और प्रगति के बीच एक अनूठा संतुलन बनाया है। शिक्षा, तकनीक, औद्योगिकीकरण और पश्चिमी प्रभाव ने जीवनशैली, खान-पान, पहनावे और सामाजिक मूल्यों (जाति व्यवस्था में कमी, लैंगिक समानता) को बदल दिया है, जबकि परिवार संरचना संयुक्त से एकल (Nuclear) हो रही है।

भारतीय संस्कृति पर आधुनिकता के प्रमुख सकारात्मक प्रभाव: शिक्षा और विज्ञान: तार्किक दृष्टिकोण का विकास और शिक्षा का प्रसार।

सामाजिक सुधार: छुआछूत, बाल विवाह जैसी कुरीतियों में कमी और लैंगिक समानता में वृद्धि।

आर्थिक और तकनीकी विकास: औद्योगिकीकरण से रोजगार के अवसर बढ़े हैं और जीवन स्तर में सुधार हुआ है।

जागरूकता: नागरिक अधिकारों और लोकतंत्र के प्रति लोगों में समझ बढ़ी है।

भारतीय संस्कृति पर आधुनिकता के नकारात्मक/चुनौतीपूर्ण प्रभाव: सांस्कृतिक क्षरण: पारंपरिक मूल्यों, पहनावे और लोक कलाओं में कमी आई है। पारिवारिक बदलाव: संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, जिससे अकेलापन और सामाजिक अलगाव की समस्याएं बढ़ी हैं। पाश्चात्य प्रभाव: युवा पीढ़ी अपनी संस्कृति को पिछड़ा मानकर पश्चिमी संस्कृति की ओर अधिक आकर्षित हो रही है। सामाजिक असमानता: शहरीकरण और औद्योगिकीकरण से नए तरह के सामाजिक अलगाव और बेरोजगारी की समस्याएं उत्पन्न हुई हैं।

आधुनिकता ने भारतीय समाज को अधिक समावेशी और प्रगतिशील बनाया है, लेकिन साथ ही पारंपरिक विरासत के सामने अस्तित्व का संकट भी खड़ा किया है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रगति को अपनाते हुए अपने सांस्कृतिक मूल को संरक्षित रखा जाए।

भारतीय समाज पर आधुनिकता के प्रभाव

भारतीय समाज पर आधुनिकता का प्रभाव गहरा और व्यापक रहा है। आधुनिकता ने भारतीय जीवन के विभिन्न पहलुओं में बदलाव लाए हैं, जिनमें सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्र शामिल हैं।

* शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

पहले जहां परंपरागत रीति-रिवाज और जाति व्यवस्था समाज की आधारशिला थे, वहीं आधुनिकता ने इन परंपराओं को चुनौती दी और समाज को अधिक समावेशी और प्रगतिशील बनाने का प्रयास किया।

आधुनिक शिक्षा और विज्ञान के प्रसार ने लोगों के सोचने के तरीके को बदला है। इससे अंधविश्वास और कुरीतियों में कमी आई है और समाज में तर्कशीलता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा मिला है। महिलाओं की स्थिति में भी सुधार हुआ है, क्योंकि आधुनिकता ने लैंगिक समानता और महिलाओं के अधिकारों को महत्व दिया है। इसके अलावा, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण ने रोजगार के नए अवसर पैदा किए हैं, जिससे आर्थिक विकास हुआ है और जीवन स्तर में सुधार आया है।

हालांकि, आधुनिकता के साथ कुछ चुनौतियां भी आई हैं। पारंपरिक मूल्यों का क्षरण, परिवारिक संरचना में बदलाव और सांस्कृतिक अस्मिता की चिंता भी बढ़ी है। इसके बावजूद, आधुनिकता ने भारतीय समाज को वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी और जागरूक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस प्रकार, आधुनिकता ने भारतीय समाज को एक नई दिशा दी है, जहां परंपरा और प्रगति का संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। उपभोक्तावाद संस्कृति का भारत पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है सभी दिखाओ के पीछे भाग रहे हैं हर कोई दिखावे के लिए महंगी से महंगी चीज भेज रहा है जैसे कंप्यूटर लैपटॉप एलइडी आदि गांधीजी ने कहा कि भारत अंग्रेजों के गुलाम से आजाद हो गया परंतु ऐसा ही चलता रहा तो भारत एक दिन जरूर ही उपभोक्तावाद संस्कृति का गुलाम हो जाएगा उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण हम धीरे-धीरे उपभोगों के दास बनते जा रहे हैं। हम अपनी जरूरतों को अनावश्यक रूप से बढ़ाते जा रहे हैं। कई लोग तो केवल दिखावे के लिए महँगी घड़ियाँ, कंप्यूटर आदि खरीद रहे हैं। प्रतिष्ठा के नाम पर हम पाँच सितारा संस्कृति के गुलाम होते जा रहे हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण हम धीरे-धीरे उपभोगों के दास बनते जा रहे हैं। हम अपनी जरूरतों को अनावश्यक रूप से बढ़ाते जा रहे हैं। कई लोग तो केवल दिखावे के लिए महँगी घड़ियाँ, कंप्यूटर आदि खरीद रहे हैं। प्रतिष्ठा के नाम पर हम पाँच सितारा संस्कृति के गुलाम होते जा रहे भारतीय समाज में युवाओं की भूमिका हमेशा से परिवर्तनकारी रही है। वे न केवल वर्तमान के निर्माता हैं बल्कि भविष्य के वाहक भी हैं। आज के समय में उपभोक्तावादी संस्कृति (Consumerist Culture) युवाओं पर सबसे अधिक प्रभाव डाल रही है। यह संस्कृति केवल आर्थिक गतिविधि तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक, मानसिक और नैतिक जीवन को भी प्रभावित कर रही है। युवाओं की सोच, उनकी जीवनशैली, उनके रिश्ते और उनकी आकांक्षाएँ उपभोक्तावाद से गहराई से जुड़ गई हैं।

उपभोक्तावादी संस्कृति और युवाओं की पहचान

युवाओं की पहचान अब उनके उपभोग से जुड़ने लगी है। वे किस ब्रांड का मोबाइल रखते हैं, किस तरह के कपड़े पहनते हैं, किस प्रकार की गाड़ी चलाते हैं—इन सब बातों से उनकी सामाजिक स्थिति का आकलन किया जाता है। उपभोक्तावाद ने युवाओं को यह विश्वास दिलाया है कि भौतिक वस्तुएँ ही सफलता और प्रतिष्ठा का प्रतीक हैं।

आर्थिक प्रभाव

युवाओं में उपभोक्तावाद ने खर्च करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। वे अपनी आय का बड़ा हिस्सा फैशन, गैजेट्स, मनोरंजन और विलासिता पर खर्च करते हैं। क्रेडिट कार्ड, ईएमआई और ऑनलाइन शॉपिंग ने इस प्रवृत्ति को और तेज़ किया है। इससे एक ओर बाज़ार का विस्तार हुआ है और रोजगार के अवसर बढ़े हैं, लेकिन दूसरी ओर युवाओं में ऋणग्रस्तता और आर्थिक असुरक्षा भी बढ़ रही है।

सामाजिक प्रभाव

उपभोक्तावाद ने युवाओं के सामाजिक संबंधों को भी प्रभावित किया है। मित्रता और रिश्तों में अब भौतिक वस्तुओं का महत्व बढ़ गया है। उपहार, पार्टी और दिखावे के माध्यम से संबंधों को मज़बूत करने की

प्रवृत्ति बढ़ी है। सोशल मीडिया ने इस प्रवृत्ति को और गहरा किया है, जहाँ लाइक्स, फॉलोअर्स और ब्रांडेड जीवनशैली ही सामाजिक पहचान का आधार बन गए हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव

भारतीय संस्कृति में सादगी, संतोष और सामूहिकता को महत्व दिया जाता था। लेकिन उपभोक्तावाद ने युवाओं को आकर्षकता, नवीनता और व्यक्तिगत उपभोग की ओर प्रेरित किया है। त्योहार और परंपराएँ अब शॉपिंग फेस्टिवल और ऑफ़र से जुड़ गए हैं। युवाओं की सांस्कृतिक भागीदारी अब बाज़ार केंद्रित हो गई है।

मानसिक प्रभाव

उपभोक्तावाद ने युवाओं में प्रतिस्पर्धा और तुलना की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। वे अपने साथियों से बेहतर दिखने और अधिक उपभोग करने की कोशिश करते हैं। इससे मानसिक तनाव, असंतोष और अवसाद की स्थिति उत्पन्न होती है। तत्काल संतुष्टि की मानसिकता ने धैर्य और संतोष की भावना को कमजोर कर दिया है।

पर्यावरणीय प्रभाव

आज युवाओं में उपभोक्तावाद ने अत्यधिक उपभोग की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इससे संसाधनों का दोहन और प्रदूषण बढ़ा है। फैशन और तकनीकी उत्पादों के लगातार बदलते ट्रेंड ने पर्यावरण पर दबाव बढ़ा दिया है। टिकाऊ विकास की चुनौती युवाओं के सामने है।

निष्कर्ष - उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारतीय समाज को आधुनिकता, सुविधा और वैश्विक जुड़ाव प्रदान किया है। लेकिन इसके साथ ही यह असमानता, पर्यावरणीय संकट और मानसिक दबाव भी उत्पन्न कर रही है। युवाओं के लिए आवश्यक है कि वे उपभोग को संतुलित दृष्टिकोण से अपनाएँ। आवश्यकताओं और इच्छाओं के बीच संतुलन बनाकर ही वे अपने जीवन को स्थायित्व और सामंजस्य प्रदान कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा–सादगी, संतोष और सामूहिकता–को बचाए रखते हुए आधुनिकता को अपनाना ही युवाओं के लिए सही मार्ग है।

सन्दर्भ सूची

1. **आहूजा, राम** *भारतीय समाज,* रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2016।
2. **शर्मा, रामधारी सिंह** *आधुनिक भारतीय समाज : परिवर्तन और चुनौतियाँ* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।
3. **दुबे, एस. सी.** *समकालीन भारत*वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।
4. **मिश्र, कैलाशनाथ** *वैश्वीकरण और भारतीय संस्कृति ,*प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।
5. **सिंह, योगेन्द्र** *आधुनिकता और सामाजिक परिवर्तन*रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2009।
6. **Baudrillard, Jean** *The Consumer Society: Myths and Structures,* Sage Publications, London, 1998.
7. **Ritzer, George** *The McDonaldization of Society* Pine Forge Press, New York, 2011.
8. **Appadurai, Arjun** *Modernity at Large: Cultural Dimensions of Globalization* University of Minnesota Press, 1996.
9. **Featherstone, Mike** *Consumer Culture and Postmodernism* Sage Publications, London, 2007.
10. **Kumar, Krishan** *From Post-Industrial to Post-Modern Society* Routledge, London, 2005.
11. **Nandy, Ashis** *The Intimate Enemy: Loss and Recovery of Self under Colonialism* Oxford University Press, Delhi, 2009

◂◂ ▸▸

मीडिया परिवार और मित्रता के लिये चुनौतियाँ

आनंद प्रकाश*

शोध सार -

आधुनिक युग में मीडिया के अधिक उपयोग से व्यक्ति मित्रो और परिवार से दूर चला जा रहा है आज व्यक्ति से कभी कभी जुड़ना कठिन होता जा रहा है जबकि डिजिटल संचार सुविधाजनक है, यह आमने-सामने के संवाद की गंभीरता का अभाव रखता है। कभी कभी संदेश और इमोजी भावनाओं को पूरी तरह से व्यक्त नहीं कर पाते, जिससे गलतफहमियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। डिजिटल संचार पर अत्यधिक निर्भरता से संबंध सतही बन सकते हैं, जहाँ सार्थक संलग्नता का अभाव हो सकता है। कई मामलों में ऑनलाइन संवाद की संक्षिप्तता खुले एवं ईमानदार संवाद में बाधा उत्पन्न करती है। इससे भावनात्मक अलगाव और संबंधों में गंभीर मुद्दों को हल करने की अक्षमता उत्पन्न हो सकती है। ऑनलाइन संचार की खामियाँ आपसी विश्वास को नष्ट कर सकती हैं और लोगों को अपनी सच्ची भावनाओं को व्यक्त करने से रोक सकती हैं, जिससे दीर्घावधि में संबंधों को क्षति पहुँच सकती है।

विशिस्ट शब्द - मीडिया, भावात्मक अलगाव, पदौंगिकी, विश्वास, ऑनलाइन आदि

मीडिया आज परिवार और मित्रों के लिए चुनौतियाँ बन गई है। मीडिया के अधिक उपयोग से व्यक्ति प्रत्यक्ष तौर पर नही मील पा रहा है। ज्यादा उपयोग व्यक्तियों को अपने प्रियजनों के साथ गुणवत्तापूर्ण समय बिताने से विचलित कर सकती है। डिनर टेबल पर स्मार्टफोन का उपयोग या मेलजोल के दौरान मित्रों का ध्यान सोशल मीडिया पर होना इसके सामान्य उदाहरण हैं। ऐसे व्यवहार अवहेलना और अलगाव की भावना उत्पन्न कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐप्स और खेलों की लत ध्यान को पूरी तरह से अपनी ओर आकर्षित कर सकती है, जिससे सार्थक बातचीत में शामिल होना कठिन हो जाता है। अति-उपयोग की यह स्थिति परिवार के सदस्यों और मित्रों के बीच असंतोष उत्पन्न कर सकती है।

निजता का ह्रास - डिजिटल युग ने निजता की सीमाओं को धुँधला कर दिया है। सोशल मीडिया पर व्यक्तिगत घटनाओं की निरंतर साझेदारी आवश्यकता से अधिक जानकारी की साझेदारी, जलन या गलतफहमियाँ उत्पन्न कर सकता है। इसके अतिरिक्त, परिवारों के भीतर अत्यधिक निगरानी या नियंत्रण असंतोष उत्पन्न कर सकता है और आपसी विश्वास को कम कर सकता है। डिजिटल परिदृश्य कई बार व्यक्तियों को ऐसा अनुभव प्रदान कर सकता है कि उनका व्यक्तिगत जीवन लगातार उजागर हो रहा है। निजता या गोपनीयता का यह क्षरण असुविधा और तनाव उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि व्यक्तियों को लग सकता है कि परिवारजनों या मित्रों द्वारा उनकी स्वायत्तता से समझौता हो रहा है।

पीढ़ीगत विभाजन: प्रौद्योगिकी के अंगीकरण में पीढ़ियों के बीच बड़ा अंतराल दिखाई देता है। परिवार के युवा सदस्य डिजिटल उपकरणों के प्रयोग में अधिक अनुकूल होते हैं, जबकि वृद्ध सदस्य ऐसे अनुकूलन में कठिनाई महसूस कर सकते हैं। यह डिजिटल विभाजन संचार को बाधित कर सकता है और अकेलेपन की भावना उत्पन्न कर सकता है। यह अंतराल प्रौद्योगिकी के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों में भी प्रकट होता है, जहाँ पुरानी पीढ़ियाँ पारंपरिक तरीकों को महत्त्व देती हैं, वहीं युवा पीढ़ियाँ डिजिटल सुविधा को प्राथमिकता देती हैं। इस विभाजन को दूर करने के लिये आपसी समझ और धैर्य की आवश्यकता होती है। उपयोगकर्त्ता-अनुकूल उपकरण प्रदान करना और साझा लर्निंग के अवसर उत्पन्न करना इन खामियों को दूर करने में मदद कर सकता है।

* शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्विद्यालय, बोधगया

मात्रा से अधिक गुणवत्ता को प्राथमिकता देना

आज डिजिटल उपकरण आसानी से संवाद स्थापित करने में सहायक होते हैं, लेकिन संवाद की गुणवत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। परिवार और मित्रों को केवल सतही संपर्क बनाए रखने के बजाय सार्थक बातचीत पर ध्यान केंद्रित करना चाहिये। नियमित रूप से निर्धारित मुलाकातें संबंधों को अधिक सुदृढ़ कर सकती हैं। साझा आभासी गतिविधियाँ, जैसे कि फिल्में देखना या एक साथ ऑनलाइन कक्षाओं में भाग लेना, संबंधों में गहराई ला सकती हैं। उपलब्धियों का उत्सव मिलकर मनाना संबंध को अधिक यादगार बना सकता है।

मीडिया रहित क्षेत्र की स्थापना करना

ऐसे स्थान या समय का निर्धारण जहाँ प्रौद्योगिकी का उपयोग न हो, बाधारहित संवाद को बढ़ावा दे सकता है। दावत, भ्रमण या पिकनिक का आयोजन प्रौद्योगिकी-मुक्त क्षेत्र में किया जा सकता है ताकि वास्तविक संपर्क को बढ़ावा मिल सके। दिन के विशेष समय (जैसे- सुबह या शाम) उपकरणों के उपयोग के लिये सीमाएँ तय करना भी व्यक्तियों को व्यक्तिगत संवाद पर ध्यान केंद्रित करने में मदद कर सकता है, जहाँ वे डिजिटल विचलन से मुक्त होंगे। माइंडफुलनेस अभ्यासों को प्रोत्साहित करना साथ बिताए गए समय की गुणवत्ता को बढ़ा सकता है।

मीडिया का नियंत्रित उपयोग करना

संबंध या संवाद प्रौद्योगिकी से प्रभावित हो, इसके बजाय इसका उपयोग संबंधों को बढ़ाने के लिये एक साधन के रूप में किया जाना चाहिये। माइंडफुलनेस अभ्यासों और उत्पादकता के लिये डिज़ाइन किये गए ऐप्स का उपयोग परिवारों एवं मित्रों को व्यवस्थित तथा संबद्ध बने रहने में मदद कर सकता है।

मीडिया और मानसिक स्वास्थ्य

मीडिया का अत्यधिक और अनियंत्रित उपयोग व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर विभिन्न नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है। अत्यधिक स्क्रीन टाइम और सूचना की अधिकता व्यक्ति की मानसिक स्थिति को प्रभावित कर सकती है। आत्महत्या और आत्म-हानि के विचार: सोशल मीडिया पर नकारात्मक टिप्पणियाँ, तुलना या अवसादजनक सामग्री किशोरों में आत्महत्या या आत्म-हानि के विचारों को जन्म दे सकती है। यह समस्या तब और बढ़ जाती है जब किशोरों को वास्तविक जीवन में मानसिक आश्रय नहीं मिल पाता। सामाजिक अलगाव और अकेलापन: स्मार्टफोन का अत्यधिक उपयोग वास्तविक सामाजिक संपर्कों को कम कर सकता है, जिससे किशोरों में अकेलापन और सामाजिक अलगाव की भावना उत्पन्न हो सकती है। यह मानसिक स्वास्थ्य के लिये गंभीर समस्या उत्पन्न कर सकती है। व्यक्तित्व विकार: सोशल मीडिया के निरंतर उपयोग से व्यक्ति के लिये वास्तविक और आभासी दुनिया में अंतर नहीं रह पाता। इससे उनके व्यक्तित्व में भ्रम और विकार उत्पन्न हो सकते हैं, जिससे वे असुरक्षा एवं पहचान संकट का सामना कर सकते हैं। डिप्रेशन और एंग्जायटी: लगातार नकारात्मक समाचार, आपत्तिजनक टिप्पणियाँ या हिंसक घटनाओं की सूचना किशोरों में मानसिक अवसाद (डिप्रेशन) और चिंता (एंग्जायटी) की समस्या उत्पन्न कर सकती है। वे छोटी-छोटी बातों पर तनाव महसूस कर सकते हैं और उनकी मानसिक स्थिति बिगड़ सकती है।

आत्मसम्मान में गिरावट: सोशल मीडिया पर विभिन्न तस्वीरों और पोस्ट्स से तुलनात्मकता व्यक्ति एवं किशोर के आत्मसम्मान को प्रभावित कर सकती है। आदर्श जीवनशैली और सौंदर्य के मानकों का पालन करने का दबाव मानसिक अवसाद तथा आत्मविश्वास की कमी का कारण बन सकता है। नींद की गंभीर समस्या: मीडिया के अत्यधिक उपयोग से नींद की गंभीर समस्या उत्पन्न हो सकती है, विशेष रूप से जब व्यक्ति रात भर स्क्रीन पर व्यस्त रहते हैं। नींद की कमी से मानसिक थकावट, ध्यान में कमी और अवसाद जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। ध्यान केंद्रित करने में कठिनाई: मीडिया पर ध्यान होना अन्य गंभीर कार्यों के प्रति ध्यान की एकाग्रता में कमी का कारण बन सकता है, जिससे पढ़ाई या अन्य कार्यों में उनका प्रदर्शन प्रभावित होता है। यह

मानसिक स्वास्थ्य के लिये एक गंभीर समस्या बन सकती है। निर्णय लेने में समस्याएँ: व्यक्ति में मीडिया के अधिक उपयोग मस्तिष्क में सूचना का अत्यधिक प्रवाह निर्णय लेने की उनकी क्षमता को कमज़ोर कर सकता है। यह उन्हें मानसिक भ्रम का शिकार बना सकता है।

मीडिया के अधिक उपयोग और मानसिक स्वास्थ्य के बीच संतुलन बनाए रखना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह सुनिश्चित करने के लिये कि किशोर स्मार्टफोन के लाभों का सही तरीके से उपयोग करें और इसके नकारात्मक प्रभावों से बचें, कुछ रणनीतियाँ तथा उपाय अपनाए जा सकते हैं: डिजिटल उपयोग का महत्त्व: व्यक्ति के लिये नियमित अंतराल पर मीडिया का उपयोग (यानी स्मार्टफोन और अन्य डिजिटल उपकरणों से दूर रहना) उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिये लाभकारी सिद्ध हो सकता है। यह उन्हें अपनी मानसिक स्थिति को पुनः संतुलित करने और सामाजिक जीवन में वापस लौटने का अवसर प्रदान करता है। सप्ताह में एक दिन या कुछ घंटों के लिये स्मार्टफोन से पूरी तरह से दूरी बनाए रखना मानसिक शांति एवं तनाव कम करने में सहायक हो सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य ऐप्स और ऑनलाइन थेरेपी: मीडिया के उपयोग का सकारात्मक पहलू यह है कि विभिन्न मानसिक स्वास्थ्य ऐप्स और ऑनलाइन थेरेपी सेवाएँ व्यक्ति एवं किशोरों को मानसिक समस्याओं से निपटने में सहायता प्रदान कर सकती हैं। मेडिटेशन ऐप्स, योजना एवं समय प्रबंधन ऐप्स और सामाजिक समर्थन मंच किशोरों को मानसिक स्थिति में सुधार लाने के लिये मदद दे सकते हैं। इन ऐप्स के माध्यम से किशोर अपने विचारों और भावनाओं को सुरक्षित एवं संरक्षित तरीके से साझा कर सकते हैं।

स्वस्थ सोशल मीडिया उपयोग: सोशल मीडिया का अधिक उपयोग किशोरों एवं व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है, लेकिन यदि इसका उपयोग सही तरीके से किया जाए तो यह सकारात्मक लाभ भी प्रदान कर सकता है। उन्हें आत्म-सम्मान और आत्म-स्वीकृति के बारे में जागरूक किया जाना चाहिये ताकि वे अपने आप को सोशल मीडिया पर दूसरों से कम न महसूस करें। इसके अलावा, सोशल मीडिया पर रचनात्मक और सकारात्मक कंटेंट को फॉलो करना मानसिक स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

शारीरिक और मानसिक गतिविधियाँ: व्यक्ति को मीडिया की दुनिया से बाहर निकलकर वास्तविक जीवन की गतिविधियों में संलग्न होने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

सामाजिक संवाद और समर्थन: मीडिया का अत्यधिक उपयोग सामाजिक संपर्क की कमी का कारण बन सकता है, लेकिन जब इसका इस्तेमाल वास्तविक दुनिया में सामाजिक संवाद को बढ़ाने के लिये किया जाता है तो यह सकारात्मक सिद्ध होता है। किशोरों को अपने परिवार और मित्रों के साथ समय बिताने के लिये प्रेरित किया जाना चाहिये ताकि वे मानसिक रूप से स्वस्थ और संतुलित रह सकें।

मानसिक स्वास्थ्य से जुड़े संसाधनों का सुलभता: व्यक्ति के लिये मानसिक स्वास्थ्य संसाधन और सहायता उपलब्ध कराना आवश्यक है। मानसिक स्वास्थ्य ऐप्स, काउंसलिंग और ऑनलाइन हेल्पलाइन सेवाएँ व्यक्ति को आवश्यक सहायता प्रदान कर सकती हैं। जब किशोर मानसिक समस्याओं का सामना करते हैं तो उन्हें बिना किसी संकोच के इन सेवाओं का उपयोग करना चाहिये। मानसिक स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता के प्रसार और व्यक्ति को इन संसाधनों के बारे में सूचित करने से उनके मानसिक स्वास्थ्य में सुधार हो सकता है।

स्व-नियमन और आत्म-संवेदनशीलता: मीडिया के उपयोग में सुधार के लिये मानव को स्व-नियमन और आत्म-संवेदनशीलता की भावना विकसित करने की आवश्यकता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि मानव मीडिया के उपयोग के साथ-साथ वास्तविक जीवन में संतुलन बनाए रखें, जिससे उनकी मानसिक स्थिति और सामाजिक संबंध सुदृढ़ हो सकें।

निष्कर्ष - अंततः कहा जा सकता है की मीडिया के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों को समझना और व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर इसके प्रभाव को नियंत्रित करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस डिजिटल युग में मीडिया

व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है, जो शिक्षा, मनोरंजन, सामाजिक संपर्क और व्यक्तिगत विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि इसका उपयोग संयमित और उद्देश्यपूर्ण तरीके से किया जाए तो यह व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक एवं सामाजिक विकास को सशक्त बना सकता है। इस विषय में माता-पिता, शिक्षक और समाज की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे व्यक्ति के मीडिया के सकारात्मक उपयोग, मानसिक स्वास्थ्य के महत्त्व और समय प्रबंधन के बारे में जागरूक कर सकते हैं। आज मानसिक स्वास्थ्य ऐप्स के उपयोग और शारीरिक गतिविधियाँ व्यक्ति को मानसिक रूप से स्थिर एवं संतुलित रखने में मदद कर सकती हैं। इस प्रकार, मीडिया का सुचिंतित उपयोग व्यक्ति के जीवन को सुरक्षित एवं सकारात्मक दिशा में प्रभावित कर सकता है।

सन्दर्भ सूची

- Padilla-Walker, L. M., Coyne, S. M., & Memmott-Elison, M. K. (2019). Media and the family. In B. H. Fiese, M. Celano, K. Deater-Deckard, E. N. Jouriles, & M. A. Whisman (Eds.), *APA handbook of contemporary family psychology: Applications and broad impact of family psychology* (pp. 365–378). American Psychological Association. https://doi.org/10.1037/0000100-023
- Marbun, L. A., & Nasution, D. R. (2024). The influence of social media on family communication patterns in the digital era. *OPINI: Journal of Communication and Social Science, 1*(2), 34–39. https://doi.org/xxxx
- O'Keeffe, G. S., & Clarke-Pearson, K. (2011). The impact of social media on children, adolescents, and families. *Pediatrics, 127*(4), 800–804. https://doi.org/10.1542/peds.2011-0054 (doi.org in Bing)
- Subrahmanyam, K., & Šmahel, D. (2011). *Digital youth: The role of media in development*. Springer. https://doi.org/10.1007/978-1-4419-6278-2 (doi.org in Bing)
- Valkenburg, P. M., & Peter, J. (2011). Online communication and adolescent well-being: Testing the stimulation versus the displacement hypothesis. *Journal of Computer-Mediated Communication, 16*(2), 200–209. https://doi.org/10.1111/j.1083-6101.2011.01529.x (doi.org in Bing)
- Livingstone, S., & Helsper, E. J. (2007). Gradations in digital inclusion: Children, young people, and the digital divide. *New Media & Society, 9*(4), 671–696. https://doi.org/10.1177/1461444807080335 (doi.org in Bing)
- Coyne, S. M., Padilla-Walker, L. M., & Howard, E. (2013). Emerging media use in emerging adulthood. *Journal of Adolescent Research, 28*(5), 595–616. https://doi.org/10.1177/0743558413487585 (doi.org in Bing)
- Uhls, Y. T., Ellison, N. B., & Subrahmanyam, K. (2017). Benefits and costs of social media in adolescence. *Pediatrics, 140*(S2), S67–S70. https://doi.org/10.1542/peds.2016-1758E (doi.org in Bing)
- Morgan, E. M., & Shanahan, J. (2010). The influence of media on social relationships. In J. Bryant & M. B. Oliver (Eds.), *Media effects: Advances in theory and research* (pp. 321–336). Routledge.

ग्रामीण विकास में कृषि विपणन की भूमिकाः रोहतास जिले के किसानों की समस्याओं का विश्लेषण

राजेन्द्र प्रसाद*
डॉ. शशि भूषण राय**

सारांश

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ की लगभग 65–70 प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार कृषि है और कृषि की सफलता काफी हद तक प्रभावी कृषि विपणन प्रणाली पर निर्भर करती है। कृषि विपणन न केवल किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने में सहायक होता है, बल्कि ग्रामीण विकास, रोजगार सृजन, आय वृद्धि तथा सामाजिक–आर्थिक सशक्तिकरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

प्रस्तुत शोध–पत्र बिहार राज्य के रोहतास जिले के विशेष संदर्भ में ग्रामीण विकास में कृषि विपणन की भूमिका तथा किसानों को विपणन प्रक्रिया में आने वाली समस्याओं का विश्लेषण करता है। अध्ययन में यह पाया गया कि रोहतास जिले के किसान आज भी पारंपरिक विपणन व्यवस्था, बिचौलियों की भूमिका, मूल्य अस्थिरता, भंडारण एवं परिवहन की कमी, बाजार सूचना के अभाव तथा संस्थागत समर्थन की कमजोरियों से जूझ रहे हैं।

शोध का उद्देश्य कृषि विपणन की वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करना, किसानों की प्रमुख समस्याओं की पहचान करना तथा यह समझना है कि ये समस्याएँ ग्रामीण विकास को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है, जिसमें द्वितीयक आँकड़ों का प्रयोग किया गया है। निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि यदि कृषि विपणन प्रणाली को सुदृढ़ किया जाए, तो रोहतास जिले में ग्रामीण विकास को तीव्र गति प्रदान की जा सकती है।

मुख्य शब्द : कृषि विपणन, ग्रामीण विकास, किसान समस्याएँ, रोहतास जिला, मंडी व्यवस्था, मूल्य निर्धारण

प्रस्तावना

ग्रामीण विकास किसी भी राष्ट्र के समग्र एवं संतुलित विकास की आधारशिला होता है। भारत जैसे विकासशील एवं कृषि प्रधान देश में ग्रामीण विकास का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि देश की बहुसंख्यक जनसंख्या आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है तथा अपनी आजीविका के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संरचना कृषि एवं उससे संबंधित गतिविधियों के इर्द–गिर्द ही विकसित हुई है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत के आर्थिक विकास की दिशा एवं गति काफी हद तक कृषि क्षेत्र की स्थिति और कार्यकुशलता पर निर्भर करती है।

कृषि केवल खाद्यान्न उत्पादन का साधन नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण रोजगार, आय सृजन, जीवन स्तर में सुधार तथा सामाजिक स्थिरता का प्रमुख आधार भी है। यदि कृषि क्षेत्र सुदृढ़ होगा, तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी सशक्त होगी और इसके परिणामस्वरूप संपूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गति मिलेगी। किंतु कृषि की सफलता केवल उत्पादन तक सीमित नहीं हैय उत्पादन के बाद कृषि उपज को उचित मूल्य पर बाजार तक पहुँचाना भी उतना ही आवश्यक है। यही भूमिका कृषि विपणन निभाता है।

कृषि विपणन वह प्रक्रिया है, जिसके अंतर्गत किसान अपनी उपज को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए विभिन्न चरणों से गुजरता है। इसमें उत्पादन के बाद की सभी गतिविधियाँ जैसेकृ संग्रहण, ग्रेडिंग, भंडारण, परिवहन, प्रसंस्करण, मूल्य निर्धारण, बिक्री एवं वितरण शामिल होती हैं। एक प्रभावी कृषि विपणन प्रणाली किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने में सहायक होती है, जिससे उनकी आय में वृद्धि

* शोधार्थी सह सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, डेहरी ऑनसोन रोहतास, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा
** वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र स्नातकोत्तर विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

होती है और वे आर्थिक रूप से सशक्त बनते हैं। इसके विपरीत, यदि विपणन व्यवस्था कमजोर हो, तो अधिक उत्पादन के बावजूद किसानों को लाभ नहीं मिल पाता, जिससे ग्रामीण विकास की प्रक्रिया बाधित हो जाती है।

भारत में कृषि विपणन की समस्या ऐतिहासिक रूप से विद्यमान रही है। स्वतंत्रता से पूर्व कृषि विपणन पूरी तरह से निजी व्यापारियों और बिचौलियों के नियंत्रण में था। किसान अशिक्षित, गरीब और संगठित न होने के कारण शोषण का शिकार होते थे। स्वतंत्रता के बाद सरकार द्वारा कृषि विपणन को संगठित एवं नियंत्रित करने के लिए विभिन्न प्रयास किए गए, जैसे– कृषि उपज मंडी समितियों (APMC) की स्थापना, न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की घोषणा, सहकारी विपणन संस्थाओं का गठन आदि। इसके बावजूद, आज भी कृषि विपणन की अनेक संरचनात्मक कमजोरियाँ बनी हुई हैं, जिनका प्रतिकूल प्रभाव किसानों और ग्रामीण विकास पर पड़ रहा है।

ग्रामीण विकास का उद्देश्य केवल आर्थिक वृद्धि तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका लक्ष्य ग्रामीण समाज के जीवन स्तर में समग्र सुधार करना है। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आधारभूत सुविधाएँ, सामाजिक न्याय और आर्थिक सुरक्षा जैसे सभी पहलू शामिल होते हैं। कृषि विपणन इन सभी पहलुओं से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। जब किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य मिलता है, तो उनकी क्रय शक्ति बढ़ती है, वे शिक्षा और स्वास्थ्य पर अधिक खर्च कर पाते हैं, जिससे ग्रामीण समाज का जीवन स्तर ऊपर उठता है। इस प्रकार कृषि विपणन ग्रामीण विकास की प्रक्रिया में उत्प्रेरक की भूमिका निभाता है।

बिहार राज्य की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है। राज्य की लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और कृषि पर निर्भर है। बिहार की कृषि संभावनाओं के बावजूद, यहाँ के किसान अपेक्षाकृत कम आय प्राप्त करते हैं, जिसका एक प्रमुख कारण कमजोर कृषि विपणन व्यवस्था है। बिहार में छोटे और सीमांत किसानों की संख्या अधिक है, जिनके पास सीमित भूमि, पूँजी और संसाधन होते हैं। ऐसे किसान अपनी उपज को बाजार तक ले जाने में असमर्थ रहते हैं और बिचौलियों पर निर्भर हो जाते हैं।

रोहतास जिला बिहार का एक प्रमुख कृषि जिला है। भौगोलिक दृष्टि से यह जिला कृषि के लिए अनुकूल माना जाता है। सोन नदी, नहर प्रणाली एवं अपेक्षाकृत उपजाऊ भूमि के कारण यहाँ धान, गेहूँ, मक्का, दलहन, तिलहन तथा सब्जियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। इसके अतिरिक्त, रोहतास जिले में कृषि आधारित उद्योगों और प्रसंस्करण की भी संभावनाएँ विद्यमान हैं। इसके बावजूद, यहाँ के किसान कृषि विपणन से जुड़ी अनेक समस्याओं का सामना कर रहे हैं।

रोहतास जिले के किसानों की प्रमुख समस्या यह है कि उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। सरकारी खरीद केंद्रों की सीमित संख्या, मंडियों की दूरियाँ, भंडारण सुविधाओं का अभाव, परिवहन की समस्या और बाजार सूचना की कमी किसानों को मजबूर करती है कि वे अपनी उपज स्थानीय व्यापारियों या बिचौलियों को कम मूल्य पर बेच दें। इससे किसानों की आय सीमित रह जाती है और वे कर्ज के जाल में फँस जाते हैं।

कृषि विपणन में बिचौलियों की भूमिका रोहतास जिले में विशेष रूप से देखने को मिलती है। किसान और उपभोक्ता के बीच कई स्तर के मध्यस्थ होते हैं, जो अधिकांश लाभ स्वयं प्राप्त कर लेते हैं। किसान को अंतिम उपभोक्ता द्वारा चुकाए गए मूल्य का बहुत छोटा हिस्सा ही प्राप्त होता है। यह स्थिति न केवल किसानों के लिए हानिकारक है, बल्कि ग्रामीण विकास की प्रक्रिया को भी बाधित करती है।

इसके अतिरिक्त, बाजार मूल्य की अस्थिरता भी किसानों के लिए एक गंभीर समस्या है। कृषि उत्पादों के मूल्य मौसम, मांग–आपूर्ति और सरकारी नीतियों पर निर्भर करते हैं। किसानों को बाजार की सही जानकारी समय पर नहीं मिल पाती, जिसके कारण वे सही समय पर अपनी उपज बेचने का निर्णय नहीं ले पाते। रोहतास जिले के अधिकांश किसान आज भी पारंपरिक ज्ञान और अनुभव के आधार पर निर्णय लेते हैं, जबकि आधुनिक बाजार व्यवस्था में सूचनाओं का विशेष महत्व है।

ग्रामीण विकास के संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि कृषि विपणन केवल आर्थिक गतिविधि नहीं है, बल्कि इसका सामाजिक प्रभाव भी होता है। कमजोर विपणन व्यवस्था के कारण किसानों में असंतोष, निराशा और असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी, पलायन और सामाजिक अस्थिरता जैसी समस्याएँ बढ़ती हैं। रोहतास जिले से अन्य राज्यों में श्रमिकों का पलायन भी आंशिक रूप से कृषि से होने वाली कम आय से जुड़ा हुआ है।

वर्तमान समय में सरकार द्वारा कृषि विपणन सुधारों के लिए कई पहल की गई हैं, जैसेकृ ई–नाम (म–छ।ड), किसान उत्पादक संगठन (थ्च्व), प्रत्यक्ष विपणन, कॉन्ट्रैक्ट फार्मिंग आदि। इन पहलों का उद्देश्य किसानों को बाजार से सीधे जोड़ना और बिचौलियों की भूमिका को कम करना है। किंतु रोहतास जिले में इन योजनाओं का प्रभाव अभी सीमित है, जिसका कारण जागरूकता की कमी, तकनीकी बाधाएँ और संस्थागत कमजोरियाँ हैं।

इस पृष्ठभूमि में यह शोध अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि कृषि विपणन ग्रामीण विकास में किस प्रकार भूमिका निभाता है और रोहतास जिले के किसानों को विपणन प्रक्रिया में किन–किन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। यह अध्ययन न केवल कृषि विपणन की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करता है, बल्कि ग्रामीण विकास पर इसके प्रभाव को भी स्पष्ट करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि यदि रोहतास जिले में कृषि विपणन व्यवस्था को सुदृढ़ किया जाए, तो न केवल किसानों की आय में वृद्धि होगी, बल्कि ग्रामीण विकास की प्रक्रिया को भी नई दिशा मिलेगी। यह शोध–पत्र इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कृषि विपणन और ग्रामीण विकास के अंतर्संबंधों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध–पत्र के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. ग्रामीण विकास में कृषि विपणन की भूमिका का अध्ययन करना।
2. रोहतास जिले की कृषि विपणन व्यवस्था का विश्लेषण करना।
3. रोहतास जिले के किसानों को कृषि विपणन में आने वाली प्रमुख समस्याओं की पहचान करना।
4. यह विश्लेषण करना कि विपणन संबंधी समस्याएँ किसानों की आय और ग्रामीण विकास को कैसे प्रभावित करती हैं।
5. कृषि विपणन सुधारों की आवश्यकता को रेखांकित करना।

साहित्य समीक्षा

कृषि विपणन और ग्रामीण विकास पर विभिन्न विद्वानों द्वारा समय–समय पर अध्ययन किए गए हैं।

अच्युतन (2014) के अनुसार, कृषि विपणन प्रणाली की कमजोरी किसानों की आय वृद्धि में सबसे बड़ी बाधा है। उन्होंने पाया कि बिचौलियों की अधिक भूमिका किसानों को शोषण की स्थिति में डालती है।

कुमार एवं सिंह (2017) ने अपने अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में कृषि उत्पादन तो बढ़ा है, परंतु विपणन ढाँचे का विकास अपेक्षित स्तर पर नहीं हो पाया है। इसके कारण किसानों को लागत के अनुरूप लाभ नहीं मिल पाता।

शर्मा (2019) ने बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि विपणन का अध्ययन करते हुए बताया कि मंडी व्यवस्था, भंडारण सुविधाओं और बाजार सूचना की कमी किसानों की प्रमुख समस्याएँ हैं।

राष्ट्रीय कृषि आयोग (2020) की रिपोर्ट के अनुसार, यदि कृषि विपणन को डिजिटल प्लेटफॉर्म और प्रत्यक्ष विपणन से जोड़ा जाए, तो ग्रामीण विकास को नई दिशा मिल सकती है।

इन सभी अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि कृषि विपणन ग्रामीण विकास का एक केंद्रीय घटक है, किंतु क्षेत्रीय स्तर पर इसकी समस्याओं का विश्लेषण आवश्यक है, जिसे यह शोध रोहतास जिले के संदर्भ में करता है।

शोध पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है।

डेटा के स्रोत

- द्वितीयक आँकड़े (Secondary Data) का प्रयोग किया गया है।
- स्रोतों में शामिल हैं–
  - कृषि विभाग, बिहार सरकार की रिपोर्टें
  - जिला सांख्यिकी पुस्तिका, रोहतास
  - शोध पत्रिकाएँ, पुस्तकें
  - सरकारी वेबसाइटें

अध्ययन क्षेत्र

- बिहार राज्य का रोहतास जिला

अध्ययन की सीमाएँ

- प्राथमिक आँकड़ों का अभाव
- अध्ययन केवल एक जिले तक सीमित

तालिकाः रोहतास जिले की प्रमुख कृषि उपज

फसल	उत्पादन का स्तर	प्रमुख विपणन समस्या	स्रोत
धान	उच्च	MSP पर खरीद की कमी	कृषि विभाग, बिहार
गेहूँ	मध्यम	भंडारण सुविधा का अभाव	जिला सांख्यिकी
मक्का	मध्यम	मूल्य अस्थिरता	NSSO रिपोर्ट
सब्जियाँ	उच्च	शीघ्र खराब होना	राज्य कृषि रिपोर्ट

परिणाम एवं चर्चा

अध्ययन के परिणाम यह दर्शाते हैं कि रोहतास जिले में कृषि विपणन ग्रामीण विकास का एक महत्वपूर्ण कारक है, परंतु वर्तमान व्यवस्था किसानों के अनुकूल नहीं है।

1. बिचौलियों की भूमिका

किसानों को अपनी उपज सीधे बाजार तक पहुँचाने में कठिनाई होती है, जिसके कारण वे बिचौलियों पर निर्भर रहते हैं। बिचौलिये अधिक लाभ कमाते हैं, जबकि किसानों को कम मूल्य मिलता है।

2. मूल्य निर्धारण की समस्या

न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की घोषणा के बावजूद, अधिकांश किसानों को इसका लाभ नहीं मिल पाता। सरकारी खरीद केंद्रों की सीमित संख्या एक बड़ी समस्या है।

3. भंडारण एवं परिवहन की कमी

भंडारण सुविधाओं के अभाव में किसान फसल को तुरंत बेचने के लिए मजबूर होते हैं। परिवहन लागत अधिक होने से लाभ घट जाता है।

4. बाजार सूचना का अभाव

किसानों को बाजार भाव, मांग और सरकारी योजनाओं की पर्याप्त जानकारी नहीं होती, जिससे वे सही निर्णय नहीं ले पाते।

इन समस्याओं का सीधा प्रभाव किसानों की आय, जीवन स्तर और ग्रामीण विकास पर पड़ता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि विपणन ग्रामीण विकास की रीढ़ है। रोहतास जिले में कृषि उत्पादन की पर्याप्त संभावनाएँ हैं, किंतु कमजोर विपणन व्यवस्था किसानों के विकास में बाधा उत्पन्न कर रही है। यदि विपणन प्रणाली को आधुनिक बनाया जाए, बिचौलियों की भूमिका कम की जाए, भंडारण एवं परिवहन सुविधाओं का विस्तार किया जाए और किसानों को बाजार से सीधे जोड़ा जाए, तो ग्रामीण विकास को तीव्र गति मिल सकती है।

अतः यह आवश्यक है कि नीति निर्माताओं, प्रशासन और किसानों के संयुक्त प्रयास से कृषि विपणन सुधारों को लागू किया जाए, ताकि रोहतास जिले का ग्रामीण विकास सुनिश्चित हो सके।

संदर्भ सूची –

Achyutan, R. (2014). *Agricultural marketing in India*. New Delhi: Oxford University Press.

Kumar, A., & Singh, R. (2017). Agricultural marketing and farmers' income in India. *Indian Journal of Agricultural Economics, 72*(3), 345–356.

Sharma, P. (2019). Problems of agricultural marketing in Bihar. *Journal of Rural Development, 38*(2), 210–225.

Government of Bihar. (2021). *Agricultural statistics of Bihar*. Patna: Department of Agriculture.

National Commission on Agriculture. (2020). *Report on agricultural marketing reforms*. New Delhi: Government of India.

◀◀ ▶▶

घरेलू हिंसा का बच्चों के बौद्धिक विकास पर प्रभावः एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. सोनी कुमारी*

सार–

मेरा ये अध्ययन ''घरेलू हिंसा का बच्चों के बौद्धिक विकास पर प्रभाव एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन'' है। घरेलू हिंसा का बच्चों के बौद्धिक और संज्ञानात्मक विकास पर प्रभाव विश्लेषित करता है। शोध में 60 बच्चों को शामिल किया गया (30 घरेलू हिंसा के वातावरण में रहने वाले, 30 सामान्य पारिवारिक वातावरण वाले)। बच्चों के बौद्धिक विकास को WISC-IV (Wechsler Intelligence Scale for Children) और Piagetian Cognitive जै के माध्यम से मापा गया। परिणामों से पता चला कि घरेलू हिंसा का अनुभव करने वाले बच्चों में संज्ञानात्मक कौशल, समस्या–समाधान क्षमता और स्मृति प्रदर्शन कम पाया गया। अध्ययन यह संकेत देता है कि घरेलू हिंसा केवल मानसिक स्वास्थ्य के लिए खतरा नहीं है, बल्कि यह बच्चों के बौद्धिक और संज्ञानात्मक विकास को भी प्रभावित करता है।

मूल शब्द– घरेलू हिंसा, बच्चों का विकास, बौद्धिक विकास, संज्ञानात्मक कौशल, WISC-IV ।

बचपन किसी भी व्यक्ति के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण और संवेदनशील चरण होता है। इस समय बच्चों का शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास तीव्र गति से होता है। बच्चों की सोचने–समझने की क्षमता, संज्ञानात्मक कौशल, समस्या–समाधान क्षमता और सीखने की प्रवृत्ति उनके पारिवारिक और सामाजिक वातावरण से सीधे प्रभावित होती है। एक सुरक्षित, प्रेमपूर्ण और स्थिर वातावरण बच्चों के संज्ञानात्मक और बौद्धिक विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसके विपरीत, हिंसात्मक या असुरक्षित पारिवारिक वातावरण बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य और बौद्धिक क्षमता पर गंभीर नकारात्मक प्रभाव डालता है। घरेलू हिंसा (Domestic Violence) एक ऐसा ही जोखिम कारक है, जो बच्चों के संज्ञानात्मक और बौद्धिक विकास को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है।

घरेलू हिंसा केवल शारीरिक मारपीट तक सीमित नहीं रहती, बल्कि यह भावनात्मक, मानसिक और आर्थिक प्रकार की भी हो सकती है। जब बच्चे ऐसे हिंसात्मक वातावरण में पले–बढ़ते हैं, तो वे लगातार तनाव, भय और असुरक्षा की स्थिति में रहते हैं। यह स्थिति बच्चों में अवसाद, चिंता, आक्रामकता और PTSD (Post&Traumatic Stress Disorder) जैसे मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बन सकती है। शोधों से यह भी पता चलता है कि लंबे समय तक हिंसात्मक वातावरण में रहने वाले बच्चों का सीखने का स्तर, ध्यान केंद्रित करने की क्षमता और समस्या–समाधान कौशल प्रभावित होता है। बच्चों का बौद्धिक विकास केवल स्कूल या शिक्षकों तक सीमित नहीं हैय परिवार और घर का वातावरण इस विकास में निर्णायक भूमिका निभाता है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर किए गए अध्ययनों ने यह स्पष्ट किया है कि घरेलू हिंसा का बच्चों पर दीर्घकालिक प्रभाव होता है। घरेलू हिंसा के वातावरण में पले बच्चे मानसिक रूप से अधिक असुरक्षित होते हैं और उनका संज्ञानात्मक विकास धीमा होता है। बच्चों में अवसाद और चिंता की संभावना अधिक होती है, जिससे उनकी समस्या–समाधान और सीखने की क्षमता प्रभावित होती है। भारत में आर्थिक और सामाजिक असमानताओं के कारण घरेलू हिंसा का प्रभाव और अधिक गंभीर होता है। ग्रामीण और आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों में बच्चों के मानसिक और बौद्धिक विकास पर हिंसा के प्रभाव की तीव्रता अधिक पाई गई। बच्चों का सोचने, समझने और निर्णय लेने का कौशल उनके सुरक्षित और स्थिर वातावरण पर निर्भर करता है। अगर बच्चे लगातार भय, तनाव और असुरक्षा में रहते हैं, तो उनका संज्ञानात्मक विकास बाधित होता है। घरेलू हिंसा का वातावरण बच्चों को मानसिक रूप से अस्थिर करता है, जिससे उनकी स्मृति, ध्यान, तार्किक सोच और समस्या–समाधान की क्षमता प्रभावित होती है। अध्ययन यह भी बताता है कि बच्चों का सामाजिक और भावनात्मक विकास भी प्रभावित होता है, जिससे वे अपने शैक्षिक और सामाजिक जीवन में पिछड़ सकते हैं।

* पी–एच0 डी0, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार
Mob. No. : 6206061850, E-mail Id: soni35267@gmail.com

भारत में किए गए अध्ययनों में अधिकांश ध्यान महिलाओं पर केंद्रित रहे हैं, जबकि बच्चों पर घरेलू हिंसा के प्रभाव पर तुलनात्मक रूप से कम शोध हुआ है। बिहार जैसे राज्यों में पारिवारिक संरचना, सामाजिक दबाव और आर्थिक निर्भरता के कारण बच्चों पर घरेलू हिंसा का प्रभाव और अधिक गंभीर हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक जागरूकता की कमी और मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं की अनुपलब्धता बच्चों के बौद्धिक और संज्ञानात्मक विकास को और अधिक प्रभावित करती है। इसके विपरीत, शहरी क्षेत्रों में संसाधनों और जागरूकता के कारण इसका प्रभाव अपेक्षाकृत कम हो सकता है।

घरेलू हिंसा के प्रभाव का विश्लेषण केवल व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर तक सीमित नहीं होना चाहिएय यह सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। बच्चों का बौद्धिक विकास उनके भविष्य के शैक्षिक और सामाजिक प्रदर्शन को निर्धारित करता है। इसलिए घरेलू हिंसा का बच्चों पर प्रभाव समझना और उसका अध्ययन करना आवश्यक है। इससे नीति निर्धारकों, शिक्षकों और मानसिक स्वास्थ्य पेशेवरों को बच्चों के विकास को सुरक्षित और सशक्त बनाने में मार्गदर्शन मिलेगा।

इस शोध का मुख्य उद्देश्य बच्चों के बौद्धिक और संज्ञानात्मक विकास पर घरेलू हिंसा के प्रभाव का अध्ययन करना है। यह अध्ययन यह भी समझने का प्रयास करेगा कि हिंसात्मक पारिवारिक वातावरण में पले बच्चों की समस्या–समाधान क्षमता, स्मृति और संज्ञानात्मक कौशल किस प्रकार प्रभावित होती है। साथ ही, शोध यह भी जांचेगा कि ग्रामीण और शहरी बच्चों के बौद्धिक विकास पर घरेलू हिंसा का प्रभाव कितना अंतर उत्पन्न करता है।

अंततः यह अध्ययन न केवल बच्चों के मानसिक और बौद्धिक विकास पर घरेलू हिंसा के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव को समझने का प्रयास करेगा, बल्कि इससे सामाजिक और शैक्षिक नीतियों के निर्माण में भी सहायता मिलेगी। बच्चों के लिए सुरक्षित और सहायक वातावरण सुनिश्चित करना, घरेलू हिंसा की रोकथाम करना और मानसिक स्वास्थ्य के लिए हस्तक्षेप रणनीतियों का विकास करना इस शोध का अंतिम लक्ष्य है।

हेइज, एल. (2007) ने महिलाओं और बच्चों पर घरेलू हिंसा के प्रभाव का व्यापक अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि घरेलू हिंसा का वातावरण बच्चों के संज्ञानात्मक और बौद्धिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। हिंसात्मक पारिवारिक परिवेश में पले बच्चों में ध्यान केंद्रित करने की क्षमता, स्मृति और समस्या–समाधान कौशल कमजोर होते हैं। इसके अलावा, ऐसे बच्चे मानसिक तनाव, भय और असुरक्षा की स्थिति में रहते हैं, जिससे उनका सीखने का स्तर प्रभावित होता है। अध्ययन ने यह भी बताया कि बच्चों के भावनात्मक और सामाजिक विकास पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता है, जिससे उनका सामाजिक समायोजन और आत्म–सम्मान कमजोर हो जाता है।[1]

गोल्डिंग, जे.एम. (2009) ने घरेलू हिंसा से प्रभावित बच्चों में मानसिक स्वास्थ्य और संज्ञानात्मक विकास का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि घरेलू हिंसा के वातावरण में पले बच्चों में अवसाद और चिंता की संभावना अधिक होती है। इसके कारण उनका ध्यान केंद्रित करने की क्षमता कमजोर हो जाती है और समस्या–समाधान कौशल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अध्ययन ने यह भी संकेत दिया कि लंबे समय तक हिंसात्मक वातावरण में रहने वाले बच्चों में सीखने की क्षमता, तार्किक सोच और स्मृति प्रदर्शन में कमी आती है।[2]

कुमार, आर., और जयसीलन, एल. (2010) ने भारत में घरेलू हिंसा और बच्चों के विकास के बीच संबंध का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि आर्थिक निर्भरता और सामाजिक समर्थन की कमी बच्चों के मानसिक और बौद्धिक विकास को प्रभावित करती है। विशेष रूप से गरीब और ग्रामीण परिवारों में हिंसात्मक वातावरण में पले बच्चों की समस्या–समाधान क्षमता, सीखने की क्षमता और सामाजिक व्यवहार प्रभावित होते हैं। अध्ययन में यह भी देखा गया कि परिवार में महिलाओं की कमजोर स्थिति और घरेलू हिंसा का उच्च स्तर बच्चों की मानसिक स्थिरता और संज्ञानात्मक विकास को बाधित करता है।[3]

विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) (2013) ने घरेलू हिंसा और बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर व्यापक शोध प्रकाशित किया। उन्होंने पाया कि घरेलू हिंसा PTSD और सीखने में कठिनाइयों का प्रमुख कारण है। बच्चों में लगातार भय और तनाव की स्थिति उनके ध्यान, स्मृति और समस्या–समाधान क्षमता को प्रभावित करती है। अध्ययन ने यह भी बताया कि हिंसात्मक वातावरण में पले बच्चे सामाजिक और भावनात्मक रूप से असुरक्षित होते हैं, जिससे उनका बौद्धिक विकास बाधित होता है।[4]

चंद्रा, पी., और सत्यनारायण, वी. (2014) ने शराब से जुड़ी पारिवारिक हिंसा और बच्चों के संज्ञानात्मक विकास पर अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि शराब सेवन से संबंधित घरेलू हिंसा बच्चों में

मानसिक तनाव, भय और असुरक्षा बढ़ाती है। इसके परिणामस्वरूप बच्चों की संज्ञानात्मक क्षमताओं, जैसे स्मृति, ध्यान और समस्या–समाधान कौशल में कमी आती है। अध्ययन ने यह भी संकेत दिया कि घरेलू हिंसा के कारण बच्चों की शैक्षिक प्रदर्शन दर कम होती है और वे सामाजिक रूप से पीछे रह जाते हैं।[5]

NFHS–4 (2015) राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS–4) में भारत में घरेलू हिंसा की व्यापकता और इसके बच्चों पर मानसिक प्रभावों का विश्लेषण किया गया। सर्वेक्षण ने पाया कि घरेलू हिंसा के वातावरण में पले बच्चों में चिंता, अवसाद और सीखने की समस्याओं की संभावना अधिक होती है।[6] बच्चों का संज्ञानात्मक विकास, समस्या–समाधान कौशल और सामाजिक व्यवहार प्रभावित होता है। इसके अलावा, NFHS–4 ने यह भी रेखांकित किया कि ग्रामीण और आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों में घरेलू हिंसा के प्रभाव अधिक गंभीर और दीर्घकालिक होते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

1. घरेलू हिंसा के वातावरण में बच्चों के बौद्धिक विकास का मूल्यांकन करना।
2. घरेलू हिंसा और सामान्य पारिवारिक वातावरण में पले बच्चों के बौद्धिक प्रदर्शन की तुलना करना।
3. हिंसात्मक वातावरण के कारण बच्चों के संज्ञानात्मक क्षमताओं में कमी का विश्लेषण।

परिकल्पना–

1. घरेलू हिंसा के वातावरण में पले बच्चों का बौद्धिक विकास सामान्य बच्चों की तुलना में कम होगा।
2. घरेलू हिंसा बच्चों की स्मृति, समस्या–समाधान और संज्ञानात्मक कौशल पर नकारात्मक प्रभाव डालेगी।

शोध पद्धति–

क. नमूनाः– 60 बच्चे (30 हिंसात्मक पारिवारिक वातावरण में, 30 सामान्य वातावरण में), आयु 7–12 वर्ष, यादृच्छिक चयन किया गया, जो कि गया जिला से है।

ख. उपकरण–

1. WISC-IV (Wechsler Intelligence Scale for Children)– WISC-IV एक मान्यता प्राप्त मनोवैज्ञानिक उपकरण है, जिसका उपयोग बच्चों की बौद्धिक क्षमता (IQ) का मापन करने के लिए किया जाता है। यह 6–16 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए डिजाइन किया गया है। WISC-IV चार मुख्य उप–स्केलों में विभाजित है– वर्बल समझ (Verbal Comprehension): भाषा और शब्दावली समझने की क्षमता का मूल्यांकन। संज्ञानात्मक तर्क के आधार पर दृश्य–स्पेशियल और तर्क कौशल का मापन। कार्यशील स्मृति से सूचना को समझने, याद रखने और प्रोसेस करने की क्षमता। प्रसंस्करण गति से जानकारी को जल्दी और सही ढंग से संसाधित करने की क्षमता। इस उपकरण से बच्चों का कुल IQ स्कोर और उप–स्कोर प्राप्त होते हैं, जो उनके संज्ञानात्मक और बौद्धिक विकास का सटीक मूल्यांकन करने में मदद करते हैं।

2. Piagetian Cognitive Tasks- पियाजे के संज्ञानात्मक कार्य उपकरण बच्चों के संज्ञानात्मक विकास के विभिन्न स्तरों का मूल्यांकन करता है। पियाजे के सिद्धांतों के अनुसार, बच्चों की तार्किक सोच, समस्या–समाधान क्षमता और कारण–परिणाम संबंध समझने की क्षमता का विश्लेषण किया जाता है। अध्ययन में विभिन्न पियाजे टास्क जैसे कि कंसर्वेशन टास्क (Conservation Task), क्लासिफिकेशन और सीरियल ऑर्डरिंग टास्क का प्रयोग किया गया। इन टास्कों के माध्यम से यह आंका जाता है कि बच्चे किस स्तर पर तर्क कर सकते हैं और उनका संज्ञानात्मक विकास किस चरण में है।

3. पारिवारिक और व्यक्तिगत विवरण फॉर्म–यह उपकरण बच्चों और उनके परिवार के सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि के डेटा को एकत्र करने के लिए उपयोग किया गया। इसमें परिवार में माता–पिता की शिक्षा, पेशा, आय स्तर, पारिवारिक संरचना, हिंसा का इतिहास और बच्चों के स्वास्थ्य व स्कूलिंग से संबंधित विवरण शामिल हैं। यह फॉर्म अध्ययन में घरेलू हिंसा और बच्चों के बौद्धिक विकास के बीच संबंध को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इन उपकरणों के संयोजन से शोधकर्ताओं को न केवल बच्चों के बौद्धिक स्तर का सटीक मूल्यांकन करने में मदद मिली, बल्कि हिंसात्मक और सामान्य पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का तुलनात्मक विश्लेषण भी संभव हुआ। WISC-IV और Piagetian टास्क ने संज्ञानात्मक संकेतकों (IQ, समस्या–समाधान, स्मृति) के आंकड़े प्रदान किए, जबकि पारिवारिक और व्यक्तिगत विवरण फॉर्म ने परिवेशीय और सामाजिक कारकों का आकलन किया।

डेटा संग्रह– व्यक्तिगत परीक्षण और साक्षात्कार, प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक द्वारा किया गया। वहीं आंकडों का विश्लेषण टी–अनुपात, माध्य, मानक विचलन, df और p मान में किया गया है।

परिणाम–

परिकल्पना कि जांच करने पर हिंसात्मक वातावरण और सामान्य वातावरण में पोषित बच्चों में बौद्धिक संकेतकों में सार्थक अंतर पाया जाएगा। समूहों बौद्धिक संकेतकों– IQ स्कोर, समस्या–समाधान, एवं स्मृति के माध्य स्कोर को सारणी–1 में विभक्त किया जा रहा हैः–

सारणी–1

हिंसात्मक वातावरण और सामान्य वातावरण में पोषित बच्चों में बौद्धिक संकेत का सार्थक अंतर

बौद्धिक संकेतक	वातावरण समूह	N	माध्य	SD	टी–अनुपात	df	सार्थकता अंतर
IQ स्कोर	हिंसात्मक	30	85.03	10.13	5.62	58	$p<0.01$
	सामान्य	30	102.04	12.14			
समस्या–समाधान	हिंसात्मक	30	14.05	3.65	4.83	58	$p<0.01$
	सामान्य	30	18.22	2.68			
स्मृति	हिंसात्मक	30	12.12	3.41	4.57	58	$p<0.01$
	सामान्य	30	16.10	2.43			

सारणी–1 में हिंसात्मक वातावरण और सामान्य वातावरण में पोषित बच्चों में बौद्धिक संकेत– IQ स्कोर, समस्या–समाधान, एवं स्मृति के माध्य स्कोर का सार्थक अंतर पाया गया। जहां पर बौद्धिक संकेतक– IQ स्कोर में (टी–अनुपात=5.62), समस्या–समाधान में (टी–अनुपात=4.83), एवं स्मृति में (टी–अनुपात=4.57) प्राप्त है। परिणाम स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि घरेलू हिंसा का बच्चों के मानसिक और बौद्धिक विकास पर गंभीर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत डेटा के अनुसार, हिंसात्मक वातावरण में पले बच्चों का औसत प्फ स्कोर (85 10) सामान्य वातावरण में पले बच्चों की तुलना में काफी कम पाया गया। यह संकेत करता है कि लगातार भय, तनाव और असुरक्षा के माहौल में रहने वाले बच्चों की संज्ञानात्मक क्षमता प्रभावित होती है।

इसी प्रकार, समस्या–समाधान कौशल और स्मृति पर भी स्पष्ट प्रभाव देखा गया। हिंसात्मक परिवार में पले बच्चों का औसत समस्या–समाधान स्कोर कम था, जबकि सामान्य वातावरण में पले बच्चों का स्कोर अधिक पाया गया। स्मृति कौशल का औसत भी हिंसात्मक परिवेश के बच्चों में सामान्य रहा, जबकि सामान्य परिवेश में अधिक पाया गया। ये स्पष्ट रूप से संकेत देते हैं कि बच्चों की स्मृति, तार्किक सोच और समस्या–समाधान क्षमता घरेलू हिंसा के प्रतिकूल प्रभाव के अधीन होती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. हेइज, एल. (2007) महिलाओं और बच्चों पर घरेलू हिंसा का प्रभावः एक वैश्विक दृष्टिकोण। जेनेवाः विश्व स्वास्थ्य संगठन पृ. 12–45।
2. गोल्डिंग, जे.एम. (2009) घरेलू हिंसा और बच्चों में मानसिक स्वास्थ्यरू व्यायाम कौशल पर प्रभाव। पारिवारिक हिंसा जर्नल आफ फॅमिली वाइअलन्स, खंड 24, पृ. 203–218।
3. कुमार, आर., और जयसीलन, एल. (2010) भारत में आर्थिक, सामाजिक समर्थन की कमी और बच्चों का मानसिक एवं बौद्धिक विकास। इंडियन जर्नल ऑफ सोशल वर्कखंड 71, पृ. 87–104।
4. विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) (2013) घरेलू हिंसाः वैश्विक और क्षेत्रीय अनुमान। जेनेवाः विश्व स्वास्थ्य संगठन पृ. 34–76।
5. चंद्रा, पी., और सत्यनारायण, वी. (2014) शराब से संबंधित पारिवारिक हिंसा और बच्चों की संज्ञानात्मक क्षमताएँ. भारतीय बालरोग जर्नल, इंडियन जर्नल ऑफ पीडियाट्रिक्स) खंड 81, पृ. 555–562।
6- राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS–4, 2015). भारत में घरेलू हिंसा और बच्चों पर इसके मानसिक प्रभाव. स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत, पृ. 110–135।

◀◀ ▶▶

भाषा–उत्पत्ति के सिद्धांत

डॉ. श्रीकान्त यादव

प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति के मन में यह सवाल जरूर उठता होगा कि भाषा की उत्तपति कैसे हुई होगी। भाषा-चिंतन के क्षेत्र में भाषाविदों के लिए यह एक जटिल सवाल रहा है। सभी ने अपने –अपने अनुसार इन सवाल का समाधान प्रस्तुत किया है । अधिकान्स लोगो ने इस सवाल के लिए जो समाधान प्रस्तुत किए हैं वह कल्पना एवं अनुमान पर आधारित रहे हैं ।ये सभी सिद्धांत भाषा उत्पत्ति के आरंभिक बिन्दु अर्थात जन्म को पकड़ने का प्रयास करते हैं, इसीलिए प्रत्यक्ष मार्गी माने गए । भाषाविदों ने इसपर यह कह कर आपत्ति जाहिर की है कि भाषाविज्ञान एक विज्ञान है इसलिए तर्क की कसौटी ज्यादा महत्वपूर्ण है न कि अनुमान अथवा कल्पना । वैज्ञानिक कसौटी को महत्व देने वाले भाषावैज्ञानिकों का स्पष्ट मत है कि भाषा –उत्पत्ति के सवाल पर विचार करना भाषाविज्ञान का कार्य नहीं है और न यह भाषाविज्ञान के दायरे की चीज है । इसे वह मानव इतिहासज्ञों, समाजशास्त्रियों एवं दार्शनिकों आदि का विषय मानते हैं । वहीं दूसरी ओर कुछ भाषाविद भाषाओं की तात्कालिक स्थिति को आधार बनाकर तुलनात्मक व एतिहासिक आदि अध्ययन पद्धति से वर्तमान से भूत की यात्रा द्वारा भाषा के आरंभिक रूप की तलाश करते हैं।इससे भाषा की उत्पत्ति का तो नहीं पर उसके शुरुवाती रूप का अनुमान कमोवेश लग जाता है । ऐसे भाषा-विद परोक्षमार्गी कहे जाते हैं । वस्तुतःभाषा उत्पत्ति का प्रश्न बहुत जटिल है , इसका कोई ठोस जवाब प्रस्तुत करना संभव नहीं है। 1886 ई. में स्थापित पेरिस की भाषाविज्ञान-समिति (Linguistics Society) ने अपनी एक बैठक में भाषा उत्पत्ति और विश्व भाषा निर्माण पर विचार न करने का निर्णय सर्वसम्मति से लिया । भाषा उत्पत्ति को लेकर प्रत्यक्ष और परोक्ष मार्गी भाषाविदों ने जो समाधान प्रस्तुत किये हैं वे हमारे इच्छा-आकांक्षाओं का संतोषजंक समाहार नहीं कर सकें हैं परंतु एतिहासिक दृष्टि से यह जानना जरूरी है कि भाषा उत्पत्ति के सवाल को लेकर उनकी कल्पनायें किन-किन अनाम-गलियों, सुरंगों में भटकी हैं।

प्रत्यक्ष मार्ग

१ – **दिव्योत्पत्ति का सिद्धांत**-(Divine Theory)भाषा उत्पत्ति को लेकर यह सबसे प्राचीन मत है । दुनियाँ के सभी धर्मावलम्बियों संसार की हर घटना-परिघटना का हेतु किसी न किसी रूप में अदृश्य या दिव्य शक्ति से जोड़ते रहे हैं । कमोवेश यह स्थिति आज भी विद्यमान है । जैसा कि धर्मावलम्बियों का इस बात पर अमिट विश्वास रहा है कि पूरी सृष्टि की रचना के साथ ईश्वर ने मनुष्यों और उसके लिए भाषा का निर्माण किया । इसी कारण सभी धार्मिक लोग अपने-अपने धर्मग्रन्थों की भाषा को आदि भाषा कहते हैं । भारत के हिन्दू धर्मावलम्बी वैदिक भाषा(संस्कृत)को सभी भाषाओं का मूल मानते हैं । उनका मत है कि सभी देवी-देवता इसी भाषा में बोलते थे इसलिए इसे देववाणी भी कहा जाता है । कालांतर में इसी मूलभाषा से दुनियाँ की अन्य भाषाओं का विकास हुआ । ऋग्वेद का एक मंत्र दृष्टव्य है-

देवीं वाचमजनयंत देवा: तां विश्वरूपा : पशवो वदन्ति।

(वाग्देवी अर्थात वाणी को देवों ने उत्पन्न किया और उसे समस्त प्राणी बोलते हैं)

इसी प्रकार महर्षि पाणिनी ने संस्कृत व्याकरण का मूल- प्रत्याहार-सूत्र शिव डमरू के नाद से उत्पन्न बताया है और इसलिए उसका नाम महेश्वर सूत्र रखा । उनकी यह मान्यता दिव्योत्पत्ति का एक रूप ही है,जो निम्न स्लोक में दृष्टव्य है -

येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात । कृत्स्न व्याकरणं प्रोक्त्म तस्मै पाणिनये नमः । ।

बौद्ध धर्मावलम्बी पाली और जैन धर्मावलम्बी मागधी को मूलभाषा मानते हैं क्योकि भगवान बुद्ध और जैन तीर्थंकरों ने अपने-अपने उपदेश इन्हीं भाषाओं में दिये हैं ।जैनों ने तो मागधी को मनुष्य के साथ-साथ सभी जीवों की मूल भाषा के रूप स्वीकार किया है ।उनका मत है की जब महावीर स्वामी उपदेश देते थे तो मनुस्यों के साथ-साथ सभी जीव-जन्तु भाव-विभोर होकर रसास्वादन करते थे । ईसाई और यहूदी अपने सबसे पुराने धर्म-ग्रंथ बाइबिल की भाषा हिब्रू को विश्व की आदि भाषा मानते हैं । जिसमें लिखा है कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही भाषा थी । ईसाइयों का यह विश्वास है कि जब ईश्वर ने आदम-हव्वा को उत्पन्न किया तो उन्हें पूर्ण विकसित हिब्रू भाषा दी थी । यदि मानवों में स्वर्ग प्राप्ति की प्रबल महत्वाकांक्षा न उत्पन्न हुई होती तो काबुल की मीनार वाली घटना न होती और पूरी दुनियाँ की भाषाओं में इतनी विविधिता न होकर एक होती । हर जगह हिब्रू भाषा का बोलबाला होता ।सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के भाषाविद टॉमस हाब्स ने स्पस्ट घोषणा करते है कि भाषा का प्रथम रचयिता स्वयं ईश्वर था ,जिसने आदम को यह सिखाया कि उसकी रची हुई वस्तुओं को किस प्रकार पुकारना चाहिए । भाषा उत्पत्ति को लेकर पश्चिमी विचारक जान लॉक का मत है कि ईश्वर ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाकर इस उदेश्य अर्थात समाजिकता उत्पन्न करने के लिए उसे वैचारिक समागम के लिए भाषा प्रदान की जो समाज का एक महान अस्त्र और एकता का सूत्र बनी । इस्लाम धर्मावलम्बियों के अनुसार अरबी भाषा खुदा की देन है । उनके धर्मग्रंथ कुरआन की आयतों को अल्लाह ने हज़रत मुहम्मद को अरबी में ही सिखायी थी। मिस्र के धर्मावलम्बी अपनी भाषा को द्वंत्र अर्थात देवभाषा कहते थे । इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मावलम्बी अपने धर्म की भाषा को आदिभाषा सिद्ध करने

ज़ोर देते हैं । इस बात पर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए क्योंकि वे ईश्वर को संसार में घटित होने वाली हर घटना का नियंता मानते हैं, उसकी इच्छा के बगैर तिनका नहीं हिलता है ,ऐसी भावनात्मक दृष्टि हर समस्या का सहज समाधान कर लेती है ,परंतु तर्क पर आधारित वैज्ञानिक दृष्टि इस प्रकार के समाधान को स्वीकार नहीं करती है।

दिव्योत्पत्ति का यह सिद्धांत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि यह धार्मिक आस्था और भाषाई श्रेष्ठता के दंभ के आधार पर अपनी-अपनी भाषा को आदिभाषा या देवभाषा सिद्ध किया है, जिसे ईश्वर ने खुद उत्पन्न किया है या उसने किसी को सिखाया है । यदि ईश्वर ने भाषा को उत्पन्न किया होता तो पूरे संसार के मनुष्यों की भाषा अलग-अलग न होकर एक जैसी होती, जिस प्रकार भौगोलिक विविधता के बावजूद पशु-पक्षियों की भाषा एक जैसी है, मसलन सभी देशों के कुत्ते एक जैसे भूँकते हैं ,घोड़े एक जैसे हिनहिनाते हैं ,ऊंट एक जैसे बलबलाते हैं, शेर एक जैसे दहाड़ते हैं ,मेमने एक जैसी मिमियाती हैं आदि।मनुष्यों की भाषा में उपस्थित इस भिन्नता के सवाल पर दिव्योत्पत्ति –सिद्धांत मौन हो जाता है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक जे. जी . हेर्डेर ने अपने प्रसिद्ध निबंध Origin of Language में इस सिद्धांत का पुरजोर विरोध करते हुये लिखा है कि 'यदि भाषा ईश्वरकृत होती तो यह अधिक सुव्यवस्थित और तर्कसंगत होती । अधिकांश भाषाएँ अव्यवस्थित और त्रुटिपूर्ण हैं '। अगर कुछ समय के लिए यह मान लिया जाय कि भाषा ईश्वर प्रदत्त है तो,व्यक्ति को जन्म लेते ही बोलने का ज्ञान होता तथा भाषा पूर्ण विकसित होती,तब इसमें विकास,परिवर्तन ,संवर्धन आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती ,पर ऐसा नहीं है,भाषा विकाशील एवं परिवर्तनशील होती है जिसे व्यक्ति अनुकरण के माध्यम से सिखाता है। अतः भाषा ईश्वरीय देंन नहीं बल्कि मनुष्यों के प्रयास का प्रतिफल है । तर्क की कसौटी पर अस्वीकार होने के बावजूद दिव्योत्पत्ति-सिद्धांत में यह बात महत्व की है कि मानवों को अन्य प्राणियों से अलग विशिष्ट भाषा प्रयोग लायक ध्वनि-यंत्र और उसे संचालित करने वाली बुद्धि मिली है जिसे आप अपनी सहूलियत के हिसाब से प्रकृति या ईश्वर को धन्यवाद दे सकते हैं ।

२- **संकेत-सिद्धांत** (Agreement Theory)- इस सिद्धांत के प्रवर्तक फेंच विद्वान जे.जे. रूसो है।इस मत को स्वीकारवाद,निर्णयवाद ,निर्णय-सिद्धांत ,प्रतीक सिद्धांत आदि नामों से भी जाना जाता है। दिव्योत्पत्ति सिद्धांत की तुलना में यह कुछ तार्किक जरूर है पर संपूर्णता में यह भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । खैर रूसो का मत है कि भाषा ईश्वर की देन न होकर मानव प्रदत्त है ।इस सिद्धांत का कहना है कि शुरुआती दौर में मानवों को हाथ,आँख आदि के संकेतों के माध्यम से भावभिव्यक्ति में समस्या उत्पन्न हुई तब वे इसप्रकार के अभिनय से तंग आकार अपनी खुली अभिवयक्ति के लिए एकत्र होकर विचार-विमर्श किया। इस बैठक में विभिन्न वस्तुओं तथा भावों-विचारों के आदान-प्रदान के लिए कुछ ध्वनि-संकेत निश्चित किए और आगे चलकर इन्हीं ध्वनि-संकेतों से भाषा का विकास हुआ । अरस्तू ने अपने On Interpretation शीर्षक निबंध में भाषा उत्पत्ति को पारस्परिक मत्येक्य या समझौते के आधार पर माना है । इससे मिलता जुलता भाव अलंकारवादी आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में दिया है।

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिन:। व्यव्हाराय लोकस्य प्रागित्थं समय: कृत :। ।

अर्थात-सृष्टि के आरंभ में लोक-व्यवहार के लिए यह निर्णय किया गया था कि इतने वर्ण ,इस क्रम में रखे जाने पर इस प्रकार के अर्थों का बोध कराएंगे ।

इस सिद्धांत के आलोक में आगे चलकर रिचर्ड , रॉय तथा जोहान्सन आदि विद्वानों इंगित-सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो संकेत सिद्धांत कि तुलना में थोड़ा व्यवस्थित जरूर है लेकिन किन्तु-परंतु इसी मान्यता को प्रकट करते हैं ।

वस्तुतः यह सिद्धांत भी भाषा उत्पत्ति के सवाल का कोई कंक्रीट जवाब नहीं दे पाता है।प्रश्न यह उठता है कि बिना भाषा के सभा का आयोजन कैसे हुआ ? जब भाषा थी ही नहीं तब व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पारस्परिक विचार-विनिमय कैसे संभव हुआ ?चलो माना कि विचार-विनिमय हुआ तो वह भाषा क्या थी ? कुछ समय के लिए यह भी मान लिया जाय कि भाषा के बिना या कोई अन्य तरीके से भावों-विचारों का आदान-प्रदान संभव हुआ होगा ,तो फिर भाषा की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ?संकेत-शब्द के लिए अर्थ निर्धारण की प्रक्रिया और आधार क्या थे ? व्यक्ति-विशेष द्वारा सुझाए गए शब्द और उसके अर्थ को सर्वसम्मति से मान लिया गया या सब ने सुझाव दिये । निर्णय की अंतिम पद्धति क्या थी ? आदि सवाल सिद्धांतकारों एवं इसके समर्थकों के सम्मुख उपस्थित रहे हैं ,परंतु इसका कोई तर्कसंगत जवाब प्रस्तुत नहीं हो सका है । यह बात स्वयं सिद्ध है कि भाषा का विचार से अटूट संबंध है, बिना भाषा के सभा का आयोजन ,विचार-विमर्श ,निर्णय आदि कार्य असंभव है । अत: इसे स्वीकार्य नहीं किया जा सकता ।

३-**धातु-सिद्धांत या रणन-सिद्धांत** –(Ding-Dong Theory or Root-Theory) इस सिद्धांत को धातु-सिद्धांत ,अनुकरण सिद्धांत ,अनुरणनमूलकतावाद ,अनुकरणात्मक अनुकरण ,डिंग-डॉग वाद आदि नामों से जाना जाता है । इस सिद्धांत के मूल प्रवर्तक प्लेटो को माना जाता है। कालांतर में इसे जर्मन भाषा-विद हैस (Heyse) ने आगे बढ़ाया और मैक्समूलर ने व्यवस्थित किया । डॉ कैलाशनाथ पाण्डेय रणन-सिद्धांत का प्रमुख प्रवर्तक हेस को ही माना है ,और इस सिद्धांत को आगे बढ़ाने में इनके शिष्य डॉ. हेरमन स्टाइंथाल की भूमिकाओं का उल्लेख किया है । ख़ैर मैक्समूलर के अनुसार ''सम्पूर्ण प्रकृति में ऐसा देखा जाता है कि चोट अथवा पारस्परिक टकराहट से प्रत्येक वस्तु में ध्वनि उत्पन्न होती है । सृष्टि की शुरुआत में मनुष्य वाणी-विहीन था । धीरे-धीरे वह संसार की वस्तुओं के संपर्क में आया । वस्तुओं के टूटने तथा रगड़ खाने से जैसी ध्वनि निसृत होती थी-उसी के आधार पर उसने वस्तुओं का नामकरण किया''। जैसा कि विदित है भौतिक जगत की वस्तुओं की

अपनी-अपनी विशिष्ट ध्वनि होती है जो आपस में एक दूसरे से टकराने के फलस्वरूप प्रकट होती है। जैसे किसी हथौड़े का अन्य किसी धातुओं ,लकड़ियों ईंट,पत्थर ,फाइबर, शीशा आदि पर आघात करें तो विभिन्न प्रकार की ध्वनि निकलती है। जीवननुभाव से हर व्यक्ति इन ध्वनियों को सुनकर यह पहचान लेता है की हथौड़े से टीन,मोटे लोहे ,लकड़ी,ईंट ,पत्थर ,फ़ाइबर या शीशे आदि पर प्रहार किया गया है । उसी प्रकार अन्य किसी कमरे में गिरने वाली वस्तु की ध्वनि को सुनकर सहज मालूम पड़ जाता है कि क्या गिरा । शीशे या स्टील का गिलास,थाली या कोई मिट्टी का पात्र आदि ।इस सिद्धांत के अनुसार शुरुआती दौर में मानव में येसी शक्ति थी कि वह जब किसी वाह्य वस्तु के संपर्क में आता था ,तो उससे निकालने वाली ध्वनियों (रणन)की छाप उस पर पड़ती थी । इन ध्वनियों का अनुकरण करते हुये मनुष्यों ने कुछ सौ मूल-धातु (मूल शब्द) बनाए । इस प्रकार कुछ काम चलाऊ धातु बन पड़े जिससे भाषा प्राप्त हो गई । कालांतर में इस प्रक्रिया से नए-नए धातु बनाने वाली स्वाभिक शक्ति बिनस्ट हो गई । उसके बाद मूल धातुओं से शब्द निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हुई ।

इस सिद्धांत के अनुसार आदि मानवों में नित-नवीन धातु निर्माण करने वाली प्रज्ञा की कल्पना की गई है ,जिसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । यदि येसी कोई शक्ति थी, तो वह खत्म कैसे हो गई ? इसका जवाब सिद्धांतकारों के पास नहीं है। यह सिद्धांत शब्द और अर्थ में सहज व स्वाभाविक संबंध मानता है ,यह तथ्य सही नहीं है। यह सिद्धांत भाषा को पूर्ण मानता है और यह भी कहता है कि सभी भाषाओं का निर्माण धातुओं से हुआ है । सर्वविदित है कि भाषा वस्तुतः अपूर्ण होती है वह इस कमी को पूर्ण करने की प्रक्रिया में गतिशील रहती है । भाषा निर्माण का आधार यदि धातु को मान लिया जाय तो चीनी आदि भाषाओं का निर्माण जो धातुओं से इतर हुआ है ,उसका समाधान क्या होगा ?आधुनिक भाषा-विज्ञान की मान्यता के अनुसार भाषा का आरंभ धातुओं से बने शब्दों से नहीं बल्कि पूर्ण-विचार वाले वाक्यों से हुआ है । शायद इन सब खामियों का भान होने के उपरांत मैक्समूलर महोदय ने इसको छोड़ दिया । अन्य सिद्धांतों की तरह यह सिद्धांत भी भाषा-उत्पत्ति का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम है ।

४-**अनुकरण-सिद्धांत या भों-भों वाद** –(Imitative Theory or Bow-Bow Theory) – अनुकरण सिद्धांत को मनाने वाले भाषाविदों में ह्विटनी,पॉल, हर्डर आदि प्रमुख हैं। किन्तु कैलाशनाथ पाण्डेय अपने ग्रंथ भाषा-विज्ञान का रसायन में भाषा –उत्पत्ति के इस सिद्धांत की उद्भावना पाश्चात्य चिंतक योहान गॉटफ्रीड हर्डर के 1772 ई.में प्रकाशित निबंध से माना है । इस सिद्धांत को ध्वन्यात्मकानुकरण –सिद्धांत ,ध्वन्यनुकरण-सिद्धांत,अनुकरणमूलकतावाद ,शब्दानुकरणवाद ,भों-भों वाद,अनुकरण सिद्धांत ,ओनोमेटोपिक थियोरी(Onometopic Theory)तथा इकोइक थियरी(Echoic Theory)आदि नामों से जाना जाता है । 18वीं सदी के विचारक फ़्रेडरिक मैक्समूलर को यह सिद्धांत लिजलिजा प्रतीत हुआ शायद इसीलिए व्यंग-परिहास के लहजे में इस सिद्धांत को बो-बो थियरी Bow-Bow Theory(जिसे हिन्दी में भों-भों थियरी)रख दिया,जोकि कुत्ते कि बोली का सूचक है ।जिस प्रकार रणन सिद्धांत में यह कहा गया कि मनुष्यों ने जड़ पदार्थों से उत्पन्न ध्वनियों का अनुकरण करके कुछेक धातु-शब्द का सृजन करके भाषा का निर्माण किया ,उसी प्रकार अनुकरण सिद्धांत ने जड़-चेतन सभी भौतिक पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करते हुए पहले कुछ शब्द का सृजित किए गए और फिर उन्हीं शब्दों से अन्य शब्दों का निर्माण करते हुए भाषा का विकास कर लिया । मनुष्यों ने जिस पदार्थ व प्राणी की जैसी ध्वनि सुनी उसी की नकल करते हुए उस पदार्थ अथवा प्राणी का नामकरण कर दिया । भाषाविदों ने अनुकरण सिद्धांत को तीन उपसिद्धांतों में विभाजित किया है-(क)ध्वन्यात्मक अनुकरण (ख)अनुरणात्मक सिद्धांत (ग)दृश्यातमक अनुकरण ।

(क) **ध्वन्यात्मक अनुकरण-** इस मत की मान्यता है कि मनष्य आस-पास के समस्त पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियों का अनुकरण करके अनेकों शब्दों का निर्माण किया । कालांतर में इन्हीं शब्दों से भाषा की मीनारें बनती गयी । मसलन-जब एक पक्षी विशेष को मनुष्यों ने का-का ,काउ-काउ,या कॉव-कॉव बोलते सुना होगा तो उसने उस पक्षी को काक कह दिया । यही वजह है शायद कि बिभिन्न भाषाओं –बोलियों में उस पक्षी विशेष के लिए कमोवेश वैसा ही प्रयोग किया जाता है । जैसे संस्कृत में 'काक' हिन्दी में काक,काग,या कागा ,तमिल और मलयालम में 'कक्का',तेलगु में 'काकि' बंगलाऔर उड़िया में 'काउ' कन्नड़ में 'कागे' आसमी में 'काउरी', मराठी में 'कावला',अंग्रेजी में 'क्रो' आदि । इस प्रकार अनेकों पशु-पक्षियों की ध्वनियों से म्याऊँ ,भों-भों ,ची-ची ,चहकना ,चहचहाना ,गुर्राना ,दहाड़ना, गरजना , रभाना , हिनहिनाना,मिमियाना जैसे अनेकों शब्दों का निर्माण हुआ ।

(ख) **अनुरणात्मक सिद्धांत-** पशु-पक्षियों की ध्वनियों के आधार पर बने शब्द ध्वन्यात्मक अनुकरण कहलाते हैं उसी प्रकार भौतिक जगत के निर्जीव पदार्थों (ठोस-द्रव) से उत्पन्न ध्वनियों के आधार पर बने शब्द अनुकरणात्मक अनुकरण के अंतर्गत आते हैं।जैसे-कललक,छलछल,ठकठक,धड़धड़,सरसर,मरमर,घिरघिर,घरघर,चरचर,पड़पड़,तड़तड़,गड़गड़ना,भड़भड़ाना ,हड़हड़ना,झरझरना आदि।

(ग) **दृश्यातमक अनुकरण-** दृश्यातमक अनुकरण के अंतर्गत आँखों से देखे गए दृश्यों का प्रतीकीकरण किया जाता है। मसलन-जगमग,झिलमिल ,दहदह ,बगबग ,झकझक ,धुंधुर ,आदि।

संसार की अधिकान्स भाषाओं में कुछ न कुछ अनुकरणात्मक शब्द मिल जाते हैं ,परंतु इतने कम शब्दों के आधार पर किसी भाषा का निर्माण हो सके यह असंभव है। आधुनिक खोजों में यह बात सामने आई है कि उत्तरी अमेरिका की एक भाषा 'अथवस्कन 'में एक शब्द भी अनुकरणमूलक नहीं हैं। यदि सिद्धांतानुसार यह मान लिया जाय कि मनुष्यों ने

समस्त जीव-जगत की आवाज़ों के आधार पर भाषा का निर्माण किया है तो अनुकरणकर्ता मनुष्य ने भाषा-प्रयोग में इतनी महारथ प्राप्त कर लिया ,जबकि ध्वनि के मूल उत्पादक पशु-पक्षी जहां के तहां कैसे रह गए ? पूरे पदार्थ-जगत (ठोस-द्रव) और जीव-जगत की ध्वनियों-बोलियों में साम्यता पायी जाती है ,परंतु संसार की सभी भाषाओं में इन ध्वनियों के अनुकरणमूलक शब्दों में क्यों असमानता है ? जैसे- झर-झर ध्वनि के साथ बहाने वाले जल-प्रपात को ध्वनि-साम्य के आधार पर संस्कृत में यदि 'निर्झर' कहा गया तो ,हिन्दी में 'झरना', अंग्रेजी में 'स्ट्रीम',जर्मन में 'स्ट्रोम',फेंच में 'रिवसों' ,भोजपुरी में 'सोता' और असमियां में 'हूटी ' आदि । अत: मनुष्य को भाषा विहीन मनाने वाला सिद्धांत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है । प्रसिद्ध विद्वान रेनन इस सिद्धांत का खंडन इस लिए किया है - क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार ध्वनियों का उत्पादन करने में मनुष्य पशु-पक्षियों से भी निकृष्ट सिद्ध होता है। जाहिर है यह तथ्य तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता ।

५- **मनोभावभिव्यक्ति सिद्धांत –** (Interjectional Theory)-इस सिद्धांत के प्रवर्तक चार्ल्स डार्विन को माना जाता है । इसे मनोरागव्यंजकशब्दमूलकतावाद ,मनोंभावाभिव्यंजकतावाद ,आवेगीवादवाद या आवेग सिद्धांत ,पूह-पूह वाद आदि नामों से जाना जाता हैं । कैलाशनाथ पाण्डेय ने इस बीघे भर सिद्धांत के नाम का समाहार करते हुए 'भावावेग' शब्द निर्दिष्ट किए हैं जो उचित प्रतीत होता है, क्योंकि यह शब्द सिद्धांत के सम्पूर्ण अर्थ को ध्वनित करने में समर्थ है । भाषा उत्पत्ति के इस सिद्धांत पर व्यंग करते हुए मैक्समूलर ने पूह-पूह सिद्धांत (Pooh-Pooh Theory)रख दिया । इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य हर्ष ,शोक,क्रोध विषमय ,क्षोभ घृणा आदि मनोभावों के समय उसके मुंह से स्वाभाविक ध्वनियाँ निकल पड़ती हैं ,आगे चलकर उसी से भाषा का जन्म हुआ । डार्विन का कहना है कि उक्त मनोभाव इतने प्रबल होते हैं कि अनायास ही मनुष्य के मुँह से इसके प्रकाशनार्थ ध्वनि निकल पड़ती है । जैसे हर्ष के समय वाह ! या आहा !,शोक व दु:ख में ओह ! आह !,या हाय! ,तिरस्कार में छिः ,धिक् ,धत् ,या दुत् , विस्मय में यें ,हैं , या ओहो! क्षोभ में च्-च् आदि ।

यह सिद्धांत भी खामियों से बच नहीं सका है, इस पर अनेकों आक्षेप लगाए जा सकते हैं ।

(क)जैसा कि विदित है इस प्रकार के शब्दों की संख्या सभी भाषाओं में न के बराबर है । और भावावेग से उत्पन्न ध्वनियां या शब्द भाषा के मुख्य अंग नहीं होते हैं बल्कि इनका प्रयोग वाक्यों की संरचना में न होकर अलग से होता है ।

(ख) इस प्रकार से उत्पन्न शब्द भाषा की असमर्थता को प्रकट करते हैं ,फिर वे स्वंम कैसे भाषा निर्माण के हेतु हो सकते हैं ? इसी आधार पर भाषाविद बेनफी ने इसका खंडन किया है।

(ग) इसका प्रयोग भावों-विचारों के लिए सोच समझ कर नहीं किया जाता बल्कि ये तो भावावेग में स्वत:स्फूर्ति प्रकट हो उठाते हैं।

(घ) भावभिव्यक्ति में प्रकट होने वाले भाव सभी भाषाओं में एक जैसे नहीं मिलते मसलन-अंग्रेजी में ओह (Oh),फ्रेंच में आहि (Ahi) जर्मन में आऊ (Au) आदि । जबकि सिद्धांतानुसार इसमें भिन्नता नहीं होनी चाहिए ।

(ड) आवेग मूलक शब्द नितांत अस्थिर व क्षणिक होते हैं, जबकि भाषा का स्वभाव ऐसा नहीं होता ।भाषा का संबंध चिंतन से होता है , क्षण-क्षण में बुलबुले की तरह उठाने वाले संचारी भावों से नहीं ।

वस्तुतः यह भी सिद्धांत भाषा उत्पत्ति के सवाल का समाधान पस्तुत करने में अक्षम ही साबित हुआ है ।

६ - **श्रम-ध्वनि सिद्धांत –** (Yo- he- ho Theory):-इस सिद्धांत के प्रयोक्ता पश्चयात भाषाविद न्यारे (Noire) को माना जाता है । इसको यो-हे-हो –वाद ,परिहरणमूलकतावाद भी कहते हैं । इस सिद्धांत के अनुसार जब व्यक्ति शारीरिक परिश्रम करता है तो मांसपेशियों पर ही नहीं बल्कि स्वरतंत्रियों पर संकुचन-विस्तार की प्रक्रिया साथ-साथ होती रहती है । परिणामत: श्रमशील व्यक्तियों के मुख से अनायास कुछ ध्वनियों ध्वनित होने लगती हैं । श्रमजन्य ध्वनि होने के कारण इसे श्रम ध्वनि कहा गया । मसलन –फरसा चलाते किसान या कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरते मजदूर के मुँह से हेंह-हेंह ,कपड़ा धुलते धोबी के मुँह से हियों-हियों या छियो-छियो ,नाव खेवते मल्लाह के मुख से हैया-हैया ,भारी समान उठाते समय मजदूर के मुख से हेय-हाँ ,हे हो ,हूँ हूँ , आदि ध्वनि निकलती हैं जिससे उसे राहत मिलती है । सिद्धांतकार के अनुसार ऐसे ध्वनियों से भाषा की उत्पत्ति हुयी है ।

श्रम-ध्वनि सिद्धांत और मनोभावभिव्यक्ति वाद में एक प्रकार से तात्विक समानता दिखाई पड़ती है ,क्योंकि एक का संबंध शारीरिक क्रिया से है तो दूसरे का भाव की तीब्रता से है ,और दोनों से अर्थहींन ध्वनियाँ निस्पदित होती हैं । क्या ! किसी भाषा की उत्पत्ति व विकास निरर्थक ध्वनियों से कैसे हो सकता है ? श्रमध्वनि का संबंध शारीरिक श्रम से न कि किसी बौद्धिक –वैचारिक चिंतन-मनन की क्रिया से है । उक्त चार छः ध्वनियों से भाषा के लिए विशाल भंडार तैयार हो सके यह संभव नहीं हैं । तात्पर्य यह है कि यह सिद्धांत भी भाषा उत्पत्ति के सवाल का समाधान प्रस्तुत करने में असफल सिद्ध हुआ है।

७- **इंगित-सिद्धांत-** (Gesture Theory):- इस सिद्धांत के सर्वप्रथम प्रयोक्ता डॉ रॉये थे और इसको पल्लवित-संवर्धित करने का कार्य अलेक्ज़ेंडर जोहानसन ने किया । इंगित-सिद्धांत भारोपीय भाषाओं के साथ-साथ प्राचीन चीनी ,तुर्की ,हिब्रू आदि भाषाओं पर आधारित था । सिद्धांतानुसार भाषा की पहली अवस्था वह रही होगी जब मनुष्य बंदरों आदि जानवरों की तरह हर्ष,दुख:,आनंद ,क्रोध ,भूख ,प्यास आदि मूल-भावों को व्यक्त करने के लिए भाव-व्यंजक शब्दों को प्रयोग आरंभ किया होगा , उसी प्रकार का क्रिया-कलाप संभवत: मनुष्यों में भी रहा होगा । कालांतर में इन्हीं ध्वनियों के अनुकरण से अलग-अलग

भावव्यंजक शब्दों का निर्माण हुआ होगा । दूसरी अवस्था भौतिक जगत के जीव-निर्जीव वस्तुओं की बोलियों-ध्वनियों के अनुकरण पर शब्द निर्माण किया । तीसरी अवस्था में मानवों ने अनजाने में अनुकरण अपने अंग-प्रत्यंग के संकेतों के निहितार्थ हेतु शब्द प्रतीक गढ़े होंगे । चौथे चरण में मनुष्यों के मानसिक क्षमता का विकास होने के उपरांत सूक्ष्म मनोभाव-व गहन विचार व्यक्त करने के लिए शब्दों का सृजन किया होगा ।

इंगित-सिद्धांत अन्य सिद्धांतों की तरह भाषा उत्पत्ति के सवाल का तर्कसम्मत जवाब नहीं दे सका ,क्योंकि दूसरे की नकल करना या होना स्वभावत: संभव है लेकिन खुद की नकल करनाअविश्वासनीय है । जाहिरेतौर पर अपना अनुकरण कोई नहीं करता है,और कर भी नहीं सकता है । यदि इंगितों से भाषा का विकास होता तो अबतक पशु-पक्षियों में भाषयी विकास की प्रक्रिया पूरी हो गयी होती । छोटे-छोटे बच्चे अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति इंगित संकेतों के माध्यम से करते हैं,परन्तु आज तक ये संकेत किसी भाषा का स्वरूप धारण नहीं कर सके हैं । मुकम्मल जीवन जीने के लिए सभी बच्चों को भाषा सिखनी पड़ती है । तात्पर्य यह है कि भाषा इंगित निर्मित नहीं हो सकती ।

८- **संगीत सिद्धांत-** (Sing-Song Theory):- इसे प्रेम सिद्धांत (Woo-Woo Theory) और संगीतवाद भी कहा जाता है। इस सिद्धांत को मनाने वालों में डार्विन ,स्पेन्सर और ऑटो जेस्पर्सन प्रमुख हैं । इस सिद्धांत के आनुसार भाषा की उत्पत्ति संगीत से हुई होगी ,शायद आदि-मानव भावुक एवं संगीत प्रिय रहा होगा । आराम के पलों में उच्चारण अवयव गुनगुनाने के खेल में कुछ अर्थहीन ध्वनियों को निकालते रहे होंगे। ये निरर्थक ध्वनियाँ धीरे-धीरे किसी वस्तु विशेष या भाव विशेष के प्रतीक रूप में निश्चित होकर अर्थवान हो गयी होंगी । कालांतर में इन्हीं प्रक्रियाओं से भाषा की उत्पत्ति हुई ।

यह सिद्धांत अनुमान आधारित है ।गुनगुनाहट से किसी भाषा का जन्म हुआ हो अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है । गुनगुनाने में निकली ध्वनि शब्दों का रूप धारण कैसे किया ?, सिद्धांतकारों ने इसका कोई स्पस्ट समाधान नहीं दिया हैं । आदि-मानव गुनगुनाते थे इसका भी कोई स्पस्ट प्रमाण नहीं मिलता है,यह कोरी कल्पना लगती है । कुल मिलकर यह सिद्धांत भी भाषा उत्पत्ति के सवाल का जवाब देने में फिसड्डी सावित हुआ है ।

९- **संपर्क-सिद्धांत –**(Contact Theory):- मनोविज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य जी. रेज़वे (G. Reveesz) इस सिद्धांत के प्रतिपादक हैं । मनोविज्ञान के आधार पर इन्होंने इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया है । उनका मत है कि पशु-पक्षी जिसप्रकार आत्मरक्षा ,संतान-रक्षा ,भय , सहवास, मैथुन व खाने-पीने की खोज में प्रतिक्रियात्मक ध्वनियाँ व्यक्त करते हैं , ठीक उसी तरह आदि-मानव भी इन सभी क्रिया-कलापों के लिए मौखिक ध्वनियों का सहारा लेता रहा होंगा। सिद्धांतकार के अनुसार संपर्क स्थापित करना मानव-की सहज प्रवृत्ति है । संपर्क की इन मनोवृत्तियों के अनुरूप मानवों ने ध्वनियों का प्रयोग शुरू किया । आरंभ में भावों के स्तर पर प्रयोग में लायी गयी ध्वनियाँ अर्थहींन रही होंगी ,किन्तु विचारधारा के स्तर पर आते-आते उक्त ध्वनियां सार्थक हो गयी ,जिससे भाषा बिकसित हो गयी । इनका यह भी मत है कि पहले क्रिया पद का निर्माण हुआ होगा और बाद में संज्ञा-पद का । मसलन- सगे-संबंधियों एवं वस्तुओं के लिए पहले शब्द रहे होंगे ,लेकिन उनका संबंध संज्ञा से न होकर क्रिया से रहा होगा । जैसे माँ के लिए अर्थ माँ दूध दो या कुछ और दो आदि ,इस तरह पहले क्रिया आई और बाद में संज्ञा । ऐसे शब्द व्याकरणिक दृष्टि से वाक्य की संरचना में प्रयुक्त होते रहे होंगे । आगे चलकर कई शब्द मिलकर वाक्य बनाने लगे होंगे । कालांतर में विचार-समृद्धि की प्रक्रिया के साथ भाषा विकसित होती गयी ।

मनोविज्ञान के आधार पर आधारित संपर्क-सिद्धांत अन्य सिद्धांत की तुलना में कुछ युक्तिसंगत जरूर है ,परंतु इसे स्वीकार करने में असहजता प्रतीत होती है –जैसे यह सिद्धांत भाषा उत्पत्ति के सवाल से कोई सरोकार न रखकर उसके विकास की अधूरी कहानी कहता है । दूसरा यह कि परिस्थिति की प्रतिक्रिय या संपर्क से एक दूसरे के करीब आए आदिकाल से पशु-पक्षी किसी भाषा को जन्म नहीं दे पाये । सच तो यह है कि प्रतिक्रियात्मक ध्वनियों से भाषा की उत्पत्ति संभव नहीं है ,भाषा की अभिव्यक्ति के लिए वाग्यंत्रों एवं उन्हें संचालित करने वाली बुद्धि की जरूरत है । मनुष्यों के अलावा प्रकृति ने यह उपहार अन्य किसी जीव-जन्तु को नहीं दिया है ।

१०-**समन्वय-सिद्धांत:-** इस सिद्धांत के प्रतिपादक इंग्लैंड निवासी भाषाविद हेनरी स्वीट (Henry Sweet)हैं । अभी तक भाषा उत्पत्ति को लेकर जितने सिद्धांत आए हैं, उनसे भाषा उत्पत्ति की समुचित जानकारी नहीं मिलती है,लेकिन इन सबमें कुछ-न कुछ सच्चाई है । हेनरी स्वीट ने अपने समय तक भाषा उत्पत्ति को लेकर जीतने कयास लगाए गए थे उन सभी के समन्वय के आधार पर भाषा के इस सवाल पर प्रकाश डाला है । उनका यह सिद्धांत अनुकरण-सिद्धांत ,भावावेग -सिद्धांत ,इंगित-सिद्धांत के सहयोगी बुनियाद पर आधारित है । हेनरी स्वीट ने इसे विकसवाद का समन्वित सिद्धांत भी कहा है । इनका ऐसा विश्वास है कि शुरुआती दौर में तीन प्रकार के शब्द थे । १:- अनुकरनमूलक (Imitative) जैसे – म्याऊँ(बिल्ली) Cuckoo(कुकू , कोयल),काक (कौआ) घुग्घू (उल्लू) भू-भू , बौ-बौ या भौ-भौ (कुत्ता) आदि । २:- मनोभावभिव्यंजक (Interjectional) ओह ,आह ,धिक् ,हाय ,वाह ,छि: आदि । ३:- प्रतिकात्मक (Symbolic) – प्रतीक-सिद्धांत से तात्पर्य उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त भाषा में प्रयोग किए जाने वाले अन्य शब्दों का समाधान इसके द्वारा किया जा सकता है । आरंभिक अवस्था में भाषा स्थूल एवं वर्णनात्मक होती है । इसी स्थूलता से आगे चलकर भाषा में सूक्ष्मता,लावण्यता ,और व्यंजनात्मकता का विकास होता है । मसलन-पत्र जो वृक्षों के पत्ते के लिए प्रयुक्त होता था , अब

स्थूल,सूक्ष्म और व्यंजक आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है । आज भाषा कि अनेकों शब्द ध्वनियाँ नवीन व्यंजक अर्थों में प्रयुक्त होती हैं ।

डॉ. श्यामसुंदर दास ने उपर्युक्त तीन वर्गों से अलग 'औपचारिक शब्द ' नाम का एक चौथा वर्ग बताया है, जिनके अनुसार 'उपचार का साधारण अर्थ "ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना", "किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उसी ध्वनि के संकेत से एक अन्य तथा सदृश और संबद्ध अर्थ का बोध करना" । इस संदर्भ में उन्होंने कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं-वह निम्न हैं। (क) आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों की जब पहले पहल पुस्तक देखने को मिली तो वे उसे 'मयूम' कहने लगे मयूम उनकी भाषा में स्नायु को कहते हैं और पुस्तक भी उसी प्रकार खुलती और बंद होती है । (ख) अंग्रेजी का पाइप (Pipe)शब्द आज नल के अर्थ में आता है । पहले 'पाइप' गड़ेरिये के बाजे के लिए आता था । बाइबिल के अनुवाद तक पाइप वाद्य के अर्थ में आया है पर उसका अर्थ अब बिलकुल बादल गया है । (ग)पिक्यूलियर (Peculiar)शब्द का उपचार की कृपा से क्या हो गया । पहले पशु एक शब्द था । वह संस्कृत शब्द के पश् धातु से बना है । पश् का अर्थ होता है बांधना ,फंसना । इसी प्रकार पशु पहले पालतू और घरेलू जानवरों को कहते थे और हिन्दी मेनाज भी पशु का प्राचीन अर्थ चलता है ,पर इसके लैटिन रूप पेकस (Pecus)से ,जिसका पशु ही अर्थ होता था ,पेकुनिया (Pecunia) बना जिसका अर्थ हुआ 'किसी प्रकार की संपत्ति '। उसी से आज का अंग्रेजी शब्द पेकुनिआरी(Pecuniary=सांपत्तिक) बना । पर उसी पेक्यूनिया से पेक्यूलियम (Peculium) बना और उसका अर्थ हुआ 'दास की निजी संपत्ति फिर उसके विशेषण पेक्यूलिआरिस (Peculiaries)से फ्रेंच के द्वारा अंग्रेजी का पिक्यूलियर (Peculiar) शब्द बना । आदि ऐसे अनेक उदाहरणों से उपचार की प्रक्रियाओं को व्यक्त किए हैं ।

जैसा कि विदित है, हेनरी स्वीट ने अनुकरण-सिद्धांत ,भावावेग -सिद्धांत ,इंगित-सिद्धांत को समन्वय करके इस सिद्धांत कि बुनियाद तैयार की है इस लिए इन सिद्धांतों की खामियां तो हैं ही,परंतु भाषा उत्पत्ति के प्रश्न पर कोई सिद्धांत मुकम्मल न होने की स्थिति में सबका समन्वय उपयुक्त माना गया । यह सिद्धांत समान्यत: किन्तु- परंतु के साथ स्वीकार कार लिया जाता है ।

भाषा उत्पत्ति को लेकर टाटा-सिद्धांत , प्रतिभा-सिद्धांत आदि की भी चर्चा विद्वानों ने की है ।

(ख) परोक्ष मार्ग

कुछ भाषा विदों की मान्यता है कि भाषा उत्पत्ति का सवाल अभी अधूरा है ,इस लिए वे परोक्ष मार्ग (अवरोही क्रम) अर्थात ऊपर से जड़ की ओर चलते हुये भाषा के आदि स्वरूप का निर्धारण करने की कोशिश करते हैं । जिसमें भाषा उत्पत्ति के प्रश्न और ध्वनियों के अर्थ संबंध के स्वरूप पर प्रकाश तो नहीं पड़ता ,परंतु शुरुआती दौर की भाषा का विभिन्न दृष्टिकोण से परिचय अवश्य मिलता है । परोक्ष मार्ग भाषा उत्पत्ति के सवाल के लिए तीन दृष्टियों को अपने चिंतन का आधार बनाया है । मसलन- बच्चों की भाषा ,असभ्य जतियों की भाषा और आधुनिक भाषाओं का इतिहास । इन बिन्दुओं पर थोड़ी चर्चा समीचीन है ।

१-**बच्चों की भाषा:-** परोक्ष मार्गियों का मत है कि मनुष्यों ने भाषा उसी प्रकार सीखी होगी जिस प्रकार कोई बच्चा सीखता है । लेकिन देखा जाय तो यह कोई विशेष बात नहीं है । आज जब छोटा बच्चा सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में कोई भाषा सीखता है तो वह अपने अभिवावकों की भाषा की नकल करने की कोशिश करता है , न कि किसी नवीन भाषा का ईज़ाद करता है। जैसे किसी व्यवस्थित संरचना को सीखना और उसका निर्माण करना अलग –अलग बात है । निर्माणकर्ता जिन-जिन कठिनायियों से गुजरा होगा जाहिर है सीखने वाला नहीं। उसी प्रकार बच्चा भाषायी समाज में मौजूद भाषा को सीखता है न कि कोई दूसरी भाषा का निर्माण करता है । यह बात जरूर कही जा सकती है कि अबोध बच्चे के वागेंद्रियों से ऐसे ध्वनि व शब्द कभी-कभी निकलते हैं जिसे समझा नहीं जा सकता है,आज का कोई भाषाई सम्पन्न समाज उसे निरर्थक जान का छोड़ देता है ।परंतु शुरुआती दौर में आदिमानव जब भाषयी दृष्टि से सम्पन्न न रहा होगा इन ध्वनियों के कुछ प्रतीक निश्चित किए होंगे ,हजारो साल की यात्रा करते हुये वे शब्द अपभ्रंस होकर आज हमारे आप के बीच किस रूप में उपस्थित होंगे, उसे पहचानना संभव नहीं है। आधुनिक युग में हो रहे नित -नवीन विकास व परिवर्तनों के मद्देनज़र भाषा का स्वरूप भी अछूता नहीं है ,बल्कि उसमें परिवर्तन के साथ-साथ सीखने वाले बच्चों की गति में भी सकारात्मक बदलाव देखा जा सकता है । ऐसी स्थिति में वर्तमान भाषा की अवस्था के आधार पर परोक्ष की यात्रा द्वारा भाषा की उत्पत्ति के सवाल का समाधान ढूँढना अंधेरे में निशाना लगाना है । इस माध्यम से भाषा में होने वाले बदलाव की कुछ प्रक्रियाओं की झलक मिल सकती है परंतु भाषा उत्पत्ति के सवाल का तार्किक जवाब असंभव है ।

२- **असभ्य जतियों की भाषा:-** आधुनिक ज्ञान-विज्ञान व पूंजीवादी संस्कृति से प्रभाव से दूर असभ्य जतियों की भाषायी स्थिति के आधार पर यह मत भाषा उत्पत्ति के सवाल का का जवाब ढूँढ़ा रहा है , परंतु तथाकथित असभ्य जतियों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली भाषाओं का इतिहास भी हजारों साल पुराना है । आधुनिक ज्ञान-विज्ञान व पूंजीवादी विकास की अंधी दौड़ से अलह-थलग होने के कारण नित-नवीन शब्दावलिओं का मात्र वहाँ आभाव है । इस बुनियाद पर भाषा उत्पत्ति के प्रश्न का तार्किक हल संभव नहीं है । असभ्य जतियों की भाषाओं से मात्र इतना लाभ हो सकता है कि सभ्य भाषाओं की तुलना के आधार पर पूर्व की भाषाओं की दशा-दिशा का किन्तु-परंतु के साथ निर्धारण किया जा सकता है ।

३- **आधुनिक भाषाओं का इतिहास:-** भाषा की उत्पत्ति व आरंभिक स्वरूप को जानने समझने का यह सबसे आसान और तार्किक माध्यम है । अबतक इस प्रश्न के उत्तर में जितने प्रयास किए गए है वे प्रत्यक्ष मार्ग के द्वारा किए गए हैं ,अर्थात जहां आरंभ से चलकर अंत तक पहुँचने की कोशिश की गयी हैं ,जबकि यह रास्ता उल्टा है ,इसमें वर्तमान आधुनिक भाषाओं के आधार पर भाषा के आरंभिक स्वरूप की यात्रा करते हैं । इस प्रक्रिया में तथ्यपरक बात यह है कि परोक्षवादियों का भाषा उत्पत्ति के सवाल का आधार कल्पना प्रसूत था जबकि यह निश्चित दशा पर आधारित है । उदाहरण के लिए भारत कि राजभाषा हिन्दी को लें और उसका अध्ययन करें ,और फिर उसके इतिहास का विश्लेषण वर्तमान कि स्थिति के संदर्भ में करते जाय । इस प्रक्रिया के तहत पुरानी हिन्दी ,अपभ्रंस ,प्राकृत,पालि ,संस्कृत और वैदिक संस्कृत की यात्रा करते जाएँ । जहांतक सामाग्री मिलती जाय वहाँ तक पहुँचकर आज की वर्तमान स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करते रहे। परिणामत: ध्वनियाँ ,व्याकरणिक रूप , शब्द-समूह, आदि की विशेषताओं व भिनताओं के साम्य-वैषम्य के आधार पर भाषा के आदि स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है ।

नोट:- आज पूंजीवाद के दौर में विकास की अंधी दौड़ को देखते हुये भाषा उत्पत्ति के संदर्भ में परोक्ष मार्ग की चर्चा करना अनुचित प्रतीत होता है ,क्योंकि परोक्ष मार्ग के संदर्भ में बच्चों की भाषा ,आदिम जतियों की भाषा और आधुनिक भाषाओं का इतिहास आदि ,जिसे विचार-सामाग्री के रूप में अपनाकर भाषा उत्पत्ति के सवाल को हल करने की कोशिश होती रही है वह अनुचित प्रतीत होती है । कारण यह है कि आज के बच्चे जिस गति से भाषा सीखते हैं ,अथवा तथाकथित आज की आदिम समाज की भाषायें जितने रास्ते तय कर चुकीं हैं , या आज की वर्तमान भाषा जितनी तेज गति से विकसित व परिवर्तित हो रही है ,जाहीर है भाषा की आदिम अवस्था इससे अलग रही होगी । तात्पर्य यह है कि जिन भाषाविदों ने भाषा उत्पत्ति के समाधान हेतु परोक्ष मार्ग की चर्चा की है उपर्युक्त सवाल का समाधान कम परंपरा का निर्वहन अधिक लगता है।

आधारग्रन्थ सूची :-

१-भारतीय भाषा विज्ञान -आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ,वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली द्वितीय संस्करण २००८
२-भाषा विज्ञान -डॉ. भोलानाथ तिवारी ,किताब महल प्रकाशन न्यास मार्ग अशोक नगर इलाहाबाद ५७ संस्करण २०१३
३-भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र -डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ,विश्वविध्यालय प्रकाशन वाराणसी संस्करण २०१४
४-भाषा विज्ञान – श्यामसुंदर दास,लोकभरती प्रकाशन प्रयागराज संस्करण २०२०
५-भाषा विज्ञान कि भूमिका -आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ,राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली चौथा संस्करण २०१०
६-हिन्दी भाषा का उद्गम और विकाश -उदयनारायण तिवारी ,लोकभरती प्रकाशन प्रयागराज संस्करण २०२१
७-भाषा विज्ञान का रसायन -कैलाशनाथ पाण्डेय ,लोकभरती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण २०१०
८-आधुनिक भाषा विज्ञान -डॉ. राजमणि शर्मा ,वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली चतुर्थ संस्करण २००९
९-आधुनिक भाषा विज्ञान के सिद्धांत -रामकिशोर शर्मा लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद छठा संस्करण २०१६
१०-भाषा विज्ञान के सिद्धांत -डॉ. मीरा दीक्षित ,सुमित प्रकाशन इलाहाबाद कि ओर से लोकभरती प्रकाशन इलाहाबाद ,छठा संस्करण २०१८
११-भाषा कि भीतरी परतें- स.ऋषभदेव शर्मा , वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली प्रथम संस्करण २०१२
१२-भाषा का संसार -प्रो. दिलीप सिंह , वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली द्वितीय संस्करण २०११
१३-भाषा विज्ञान सैद्धांतिक चिंतन -रवींद्र श्रीवास्तव ,राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली चौथा संस्करण २०१४
१४-आधुनिक भाषा विज्ञान -कृपाशंकर सिंह /चतुर्भुज सहाय, वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली प्रथम संस्करण २०१०
१५-भाषा,भाषा विज्ञान और राजभाषा हिन्दी-महेन्द्रनाथ दुबे / डॉ. मीनाक्षी दुबे , वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली प्रथम संस्करण २०१०
१६-भाषा विज्ञान कर्णसिंह -साहित्य भंडार मेरठ १७ वाँ संस्करण २००६
१७-भाषा विज्ञान -प्रो. महावीर सरन जैन - लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण २०२५

छात्रों के समग्र विकास में शिक्षक की भूमिका एवं चुनौतियां : राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) से सन्दर्भित

डॉ. राजेन्द्र कुमार जायसवाल*

सारांश–

शिक्षा नीति को बनाने से अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य इसका क्रियान्वयन करना है, जिसमें शिक्षकों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) में चाणक्य के प्रसिद्ध वाक्य ''शिक्षक कभी साधारण नहीं होता, उसकी गोद में प्रलय व निर्माण एक साथ पलते हैं'' को उद्धृत करते हुये वर्णित किया गया है कि छात्रों के जीवन में एक शिक्षक ही परिवर्तन ला सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में जो भी नये परिवर्तन हुये हैं, उनको शिक्षक स्वयं समझ कर छात्रों को समझाने की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए शिक्षक के महत्व पर सर्वाधिक बल देती है। जिसमें उल्लेखित है कि प्रत्येक विद्यार्थी की विशिष्ट क्षमताओं की पहचान करने और उसके समग्र विकास के लिए शिक्षकों को इनकी क्षमताओं के प्रति संवेदनशील होना पड़ेगा, जिससे छात्रों की शैक्षिक क्षमताओं का पूर्ण विकास हो सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तहत शिक्षकों से अपेक्षा की जाती है कि वे केवल शिक्षा प्रदाता न होकर छात्रों के कौशल, नवाचार और अनुसंधान के विकास में सहयोग करें। पहले जहाँ शिक्षक मुख्यतः ज्ञान प्रदाता माने जाते थे, अब उनकी भूमिका एक मार्गदर्शक, नवाचारी और शोधकर्ता के रुप में विकसित हो रही है। वे एक प्रेरक के रुप में कार्य करते हुए सुरक्षित, संवादात्मक वातावरण में मूल्यों को सिखाकर, रचनात्मकता को बढ़ावा देकर और आत्मविश्वास का निर्माण करके छात्रों के बौद्धिक, शारीरिक, भावनात्मक एवं सामाजिक विकास का पोषण करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 को सन्दर्भित करते हुए छात्रों के समग्र विकास में शिक्षकों की कर्तव्यनिष्ठ भूमिका और क्रियान्वयन में आने वाली चुनौतियों के आंकलन का एक अध्ययन है।

मुख्य शब्द– समग्र विकास, समग्र विकास में शिक्षक की भूमिका एवं चुनौतियाँ

प्रस्तावना–

''सबसे अच्छा शिक्षक वह है जो विद्यार्थियों के मस्तिष्क में परिवर्तन ला सकें।''– **टेरी हीक**

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का उद्देश्य बालक की सभी मानवीय क्षमताओं, गुणों और सम्भावनाओं को विकसित करना है। साथ ही, नीति निर्माताओं ने भारतीय शिक्षा की पुरानी विरासत और आभासी एवं वैश्विक शिक्षा के बीच संतुलन बनाए रखा है। मानवशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार, मनुष्य ही संसार में सभी सम्भावनाओं का उद्गम है। मानव संसाधन की गुणवत्ता ही उस देश के विकास और समृद्धि को निर्धारित करती है जहाँ वह रहता है। नीति निर्माताओं का लक्ष्य ''सभी के लिए समावेशी और समान गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सुनिश्चित करना और आजीवन सीखने के अवसरों को बढ़ावा देना'' है। इस नीति का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है, कि बालक न्यूनतम शिक्षा पूरी करने के बाद अपने जीवन में सफल हो सके।

भारतीय शिक्षा का गौरवशाली अतीत रहा है। हजारों वर्ष पूर्व जब प्राचीन भारतीय सभ्यता में वैदिक और गुरुकुल शिक्षा सर्वमान्य थी, तब यह संदेह करना कठिन है कि पश्चिमी जगत को पढ़ना आता भी था या नहीं। भारत में समग्र और बहुविषयक शिक्षा की एक लम्बी परम्परा रही है, नालंदा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों से लेकर विभिन्न क्षेत्रों के विषयों को समाहित करने वाले भारत के विशाल साहित्य तक। शिक्षा प्रणाली में तीव्र परिवर्तन इसलिए देखा जा रहा है क्योंकि शिक्षा की मांग और परिणाम बदल गये हैं। प्रत्येक मनुष्य अनेक सम्भावनाओं का भण्डार है। एक बुद्धिमान व्यक्ति कलाकार हो सकता है। एक गणितज्ञ कुशल कलाबाज हो सकता है। और एक इंजिनीयर दार्शनिक भी

---

* एसो. प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री गणेश राय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, डोभी, जौनपुर (उ0प्र0)

हो सकता है। शिक्षा नीति सकारात्मक परिवर्तनों से भरपूर है। केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा स्तर तक अनेक बदलाव किये हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 छात्रों के सर्वांगीण विकास का समर्थन करती है, शिक्षा को कक्षागत् दायरे से आगे ले जाकर छात्रों के शारीरिक, भावनात्मक, सामाजिक, नैतिक और संज्ञानात्मक विकास को पोषित करती है। समग्र विकास के सन्दर्भ में, शिक्षक की भूमिका पहिए के केन्द्र में लगे कील के सदृश है जिस पर उसका घूर्णन टिका है। इसके अन्तर्गत शिक्षकों को अनुभवात्मक, एकीकृत और छात्र–केन्द्रित शिक्षण का सूत्रधार बनने की आवश्यकता है, जो नवीन शिक्षण विधियों, प्रौद्योगिकी और अंतःविषयक दृष्टिकोणों का उपयोग करके आलोचनात्मक सोच, रचनात्मकता और जीवन कौशल को बढ़ावा दे सके। शिक्षक को केवल ज्ञान प्रदान करने वाला नहीं अपितु समग्र कल्याण के मार्गदर्शक के रूप में रूपान्तरित करें। इस सन्दर्भ में शिक्षकों को सामाजिक–भावनात्मक अधिगम (SEL) और बहुविषयक शिक्षण जैसे क्षेत्रों में पुनः प्रशिक्षण की आवश्यकता है। शिक्षा नीति का लक्ष्य है, कि भारत एक विश्वगुरु के रुप में स्थापित हो।

हमारे यहाँ शिक्षा के लिए एक उत्साहपूर्ण वातावरण है। फिर भी क्रियान्वित औपचारिक शिक्षा का प्रासंगिक उपयोग अप्रचलित तथा अव्यावहारिक है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के माध्यम से भारतीय शिक्षा के मूलभूत संरचना में होने वाले परिवर्तन ने शिक्षक, छात्र एवं पाठ्यचर्या को आधुनिक युग की शैक्षिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें समग्र विकास की अवधारणा अत्यंत प्रभावशाली है। शिक्षक छात्रों के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, वे सिर्फ ज्ञान ही नहीं देते बल्कि नैतिक मूल्यों, सामाजिक कौशल, भावनात्मक समझ और आत्मविश्वास जगाते हैं। वे एक मार्गदर्शक, सुविधाप्रदाता, एवं आदर्श व्यक्तित्व होते हैं जो छात्रों को सक्षम, जिम्मेदार और संवेदनशील नागरिक बनाते हैं, जिससे उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है। वर्तमान शिक्षा नीति में छात्रों के समग्र विकास का उद्देश्यपूर्ण लक्ष्य शिक्षक की प्रभावशाली प्रस्तुती एवं अनुभवात्मक प्रयोग से ही प्राप्त हो सकते हैं।

हालाँकि छात्रों के समग्र विकास में शिक्षक के समक्ष अनेक प्रकार की चुनौतियाँ भी हैं, जिनका उल्लेख प्रस्तुत शोध पत्र में किया गया है।

समग्र विकास– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का लक्ष्य शिक्षा को केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित न रखकर छात्रों के समग्र विकास पर केन्द्रित करना है। समग्र विकास का तात्पर्य बौद्धिक, भावनात्मक, सामाजिक, शारीरिक और नैतिक विकास इत्यादि सर्वांगीण विकास से है जिसके द्वारा छात्र टीम वर्क, रचनात्मकता और बहु–संचार जैसे आवश्यक जीवन कौशल हासिल कर सकें। छात्रों को संसार की चुनौतियों के लिए सक्षम और सर्वांगीण व्यक्ति बनने की क्षमता प्रदान करना है। आधुनिक युग में विश्वस्तरीय शिक्षा का मूल उद्देश्य है छात्रों का समग्र विकास।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और शिक्षक– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 शिक्षकों को शैक्षणिक सुधार के केन्द्र में रखती है। उनकी भूमिका को केवल प्रशिक्षकों से बदलकर उत्साही सुविधादाताओं, मार्गदर्शकों और नवप्रवर्तकों के रुप में स्थापित करती है, जो जिज्ञासा को जगाते हैं, आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा देते हैं, और पूछताछ–आधारित, अनुभवात्मक शिक्षा तथा व्यापक दृष्टिकोणों के माध्यम से समग्र विकास को प्रेरित करते हैं। यह 21वीं सदी के कौशल और सीखने के प्रति प्रेम विकसित करने के लिए मजबूत प्रशिक्षण और पेशेवर मानकों द्वारा समर्थित हैं।

समग्र विकास में शिक्षक की भूमिका एवं चुनौतियाँ– भारत की शिक्षा प्रणाली में शिक्षक को हमेशा एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पारम्परिक रुप से, शिक्षक का कार्य केवल पाठ्यक्रम को पढ़ाना, परीक्षा लेना, और विद्यार्थियों के शैक्षिक प्रदर्शन का मूल्यांकन करना था। हालाँकि समय के साथ यह भूमिका बदलती रही है। अब शिक्षकों से यह अपेक्षा की जा रही है कि वे नवाचार, शोध और डिजिटल शिक्षा के क्षेत्र में भी सक्रिय भूमिका निभाएँ। समग्र विकास को क्रियान्वित करने में शिक्षक को अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है यथा– तकनीकी सुविधाओं की कमी, प्रशिक्षण का अभाव, नई भूमिका और जिम्मेदारियों का बोझ, शोध व नवाचार के क्षेत्र में प्रायोगिक ज्ञान की कमी इत्यादि।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अन्तर्गत शिक्षकों की बदलती भूमिका निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट हो सकती हैं–

- **बहु–विषयक शिक्षण और समग्र विकास :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में बहु–विषयक दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है। शिक्षक को केवल एक विषय तक सीमित नहीं रहना होगा, बल्कि उन्हें छात्रों के समग्र विकास के लिए कला, विज्ञान और तकनीकी शिक्षा का समन्वय करना होगा।
- **नवाचारी शिक्षण विधियाँः** पारम्परिक शिक्षण पद्धतियों की जगह नवाचारी और सहभागिता आधारित शिक्षण पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं। शिक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है, कि वे समस्या–आधारित शिक्षा, परियोजना–आधारित शिक्षा और अन्य नवीन शिक्षण विधियों का उपयोग करें जिससे छात्रों को वास्तविक जीवन की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार किया जा सके।
- **मानव संसाधन विकास :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 शिक्षकों को अब केवल शैक्षिक ज्ञान प्रदाता के रुप में नहीं वरन एक मार्गदर्शक और सलाहकार बनने की ओर प्रेरित करती है जिससे छात्रों के मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक विकास इत्यादि समग्र विकास में सहयोग हो सके।
- **तकनीकियों का प्रयोग :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में डिजिटल शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। शिक्षकों को विभिन्न आधुनिक तकनीकियों का ज्ञान और कुशलता प्राप्त करनी होगी, जिसका अनुप्रयोग करके छात्रों का शिक्षा के नये आभासी संसार से परिचय हो सकेगा।
- **शोधकार्य हेतु प्रेरणा :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 शिक्षकों को शोधकार्य के प्रति प्रोत्साहित करती है जिससे वे स्वयं अपने विषय क्षेत्र में शोध करते हुए छात्रों को अद्यतन ज्ञान प्रदान कर सकें। जब शिक्षक अपने विषय क्षेत्र में गहन अध्ययन करता है तो छात्रों को भी शोधकार्य करने के लिए प्रेरणा मिलती है।

यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 समग्र और बहुविषयक शिक्षा के लिए एक आकर्षक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, लेकिन इस दृष्टिकोण को व्यावहारिक रुप देने में अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा जो बिन्दुवार अग्रलिखित हैं–

- **तकनीकी एवं संसाधनों का अभाव :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के दृष्टिकोण को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए प्रर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता है। भारत के अनेक शिक्षा संस्थानों में आज भी आवश्यक तकनीकी सुविधाओं का अभाव है। विद्यालयों को परियोजना–आधारित शिक्षा और अनुभवात्मक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए प्रौद्योगिकी, विज्ञान प्रयोगशालाओं तथा अन्य सुविधाओं में निवेश करने की आवश्यकता हो सकती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षण सामग्री और योग्य प्रशिक्षण प्रशिक्षकों की उपलब्धता सुनिश्चित करना एक चुनौती हो सकती है।
- **शिक्षक प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अन्तर्गत शिक्षकों को तकनीकी और नवाचारी शिक्षण विधियों का ज्ञान प्राप्त करना है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में व्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता हो सकती है ताकि शिक्षक डिजिटल शिक्षा में कुशल होकर बहुविषक पाठ्यक्रम में विविध शिक्षण शैलियों को अपना सकें। इससे वे अपने विषय क्षेत्र में शोधकार्य को भी बढ़ावा दे सकेंगे।
- **आंकलन और मूल्यांकन प्रणालियाँ :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने रटने की पद्धति से हटकर आलोचनात्मक सोच और समग्र विकास पर ध्यान केन्द्रित किया है। बहुविषयक कौशल को बढ़ावा देने के लिए मूल्यांकन विधियों में परिवर्तन आवश्यक है। ऐसी सशक्त मूल्यांकन प्रणलियाँ विकसित करना है, जो विभिन्न शिक्षण परिवेशों में निष्पक्षता और एकरुपता बनाए रखते हुए कौशलों को प्रभावी ढंग से माप सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में सफल परिवर्तन के लिए न केवल शिक्षकों बल्कि छात्रों, अभिभावकों और समग्र समाज की सोच में बदलाव आवश्यक है।

भावी रणनीतियाँ और सुझाव :

यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 को क्रियान्वित करने में अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है फिर भी कई रणनीतियाँ और भविष्य के विचार समग्र विकास एवं बहुविषयक शिक्षा के सफल कार्यान्वयन का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं–

- ऐसे मार्गदर्शन कार्यक्रम स्थापित करें जहाँ अनुभवी शिक्षक नये शिक्षकों को समग्र शिक्षा तथा बहुविषयक दृष्टिकोणों को लागू करने में सहायता प्रदान कर सकें।
- शिक्षकों को नई शिक्षण विधियों के लिए आवश्यक कौशल, परियोजना-आधारित शिक्षण, प्रौद्योगिकी एकीकरण और छात्र-केन्दित कक्षाओं को सुगम बनाने का प्रशिक्षण हो।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 को चरणबद्ध तरीके से क्रियान्वित करें, जिसमें सबसे अधिक आवश्यकता वाले विद्यालयों को संसाधन आवंटन में प्राथमिकता दी जाए और धीरे-धीरे अन्य विद्यालयों तक इसका विस्तार किया जाए। इससे सुगम परिवर्तन सुनिश्चित होगा और संसाधनों का कुशल उपयोग होगा।
- सभी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के लोगों को गुणवत्तापूर्ण संसाधनों तक समान पहुँच सुनिश्चित करें। इससे लक्षित सरकारी वित्तपोषण या विद्यालयों के बीच संसाधन-साझाकरण सहसम्बन्ध विकसित करना शामिल हो सकता है।
- छात्रों के आंकलन एवं मूल्यांकन हेतु ऐसी विधियों का निर्माण करें जो आलोचनात्मक सोच, समस्या-समाधान, सहयोगात्मक कौशल और परियोजना पूर्णता का मूल्यांकन करें। इसमें पोर्टफोलियो, प्रस्तुतियाँ, सामूहिक कार्यक्रम इत्यादि हो सकते हैं।
- छात्रों, अभिभावकों और समाज के लिए समग्र एवं बहुविषयक शिक्षा के लाभों के बारे में जागरुकता अभियान चलाएं। इससे उनके पूर्ववर्ती विचारों को बदलने में सहायता मिलेगी। छात्रों को प्रभावी करियर परामर्श सेवाएं प्रदान करें, उन्हें विभिन्न करियर विकल्पों से परिचित कराएं। जिससे उनका समग्र विकास हो सके।

निष्कर्ष : राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारत की शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन लाने की दिशा में एक साहसिक कदम है। समग्र विकास को प्राथमिकता देते हुए, इस नीति का उद्देश्य छात्रों को 21वीं सदी की जटिलताओं से निपटने के लिए आवश्यक कौशल और ज्ञान से युक्त करना है। इसके तहत शिक्षकों की पारम्परिक भूमिका को नए सिरे से परिभाषित किया गया है, जिससे उन्हें केवल ज्ञान प्रदाता नहीं बल्कि एक मार्गदर्शक, शोधकर्ता और नवाचारी के रुप में देखा जा रहा है। इस बदलाव के साथ शिक्षकों को नई चुनौतियों का सामना करना होगा, जिनका समाधान प्रशिक्षण, तकनीकी सुविधाओं के विकास और अनुसंधान में सहयोग से किया जा सकता है। समग्र विकास का दृष्टिकोण न केवल शैक्षणिक उपलब्धि पर, बल्कि आलोचनात्मक सोच, समस्या-समाधान, अनुकूलनशीलता और आजीवन सीखने के प्रति प्रेम को बढ़ावा देने पर भी बल देता है। शिक्षक को नवीन शैक्षणिक विधियों, डिजिटल शिक्षा, शोध कार्यों और विद्यार्थियों के समग्र विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। अन्ततः राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की सफलता सामूहिक सहयोग पर निर्भर करती है। शिक्षक, नीति निर्माता, अभिभावक और समाज सभी को सकारात्मक परिवर्तन के उत्प्रेरक के रुप में कार्य कर सकते हैं, जिससे सशक्त और सर्वांगीण छात्रों की भावी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. डॉ० सुरेन्द्र पाल रॉयल, (2018) **''प्रभावी शिक्षा के संवर्धन में शिक्षक की भूमिका''** [International Education Journal' 8(2): 135-137]
2. सिंह, राजेश कुमार(2020) **''नई शिक्षा नीति 2020 : एक समग्र अध्ययन,** नई दिल्ली, [शिक्षा भारती प्रकाशन]
3. तिवारी, अरूण कुमार (2021) **''शिक्षा में शिक्षक की भूमिका : नई चुनौतियाँ और अवसर'',** वाराणसी [भारतीय शिक्षा प्रकाशन]
4. प्रीती,(2022) **'' शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की भूमिका''** [International Journal of Hindi Research' 8(1): 8-12]
5. **NEP 2020** भाग द्वितीय, ''उच्च शिक्षा : एक अधिक समग्र और बहुविषयक शिक्षा की ओर।''
6. **NEP 2020** भाग तृतीय,''ऑनलाइन और डिजिटल शिक्षा : प्रौद्योगिकी का समान उपयोग सुनिश्चित करना।''

◀◀ ▶▶

राजनीतिक गठबंधन सरकार के पक्ष एवं विपक्ष का सरकारी तंत्र पर प्रभाव

डॉ. राजमणि कुमारी*

सार–

भारतीय लोकतंत्र बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली पर आधारित है, जहाँ विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय समूहों का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलों के माध्यम से होता है। स्वतंत्रता के पश्चात प्रारंभिक दशकों में एक–दलीय प्रभुत्व देखने को मिला, किंतु 1989 के बाद से गठबंधन सरकारों का युग प्रारंभ हुआ। गठबंधन सरकारें उस स्थिति में बनती हैं जब कोई एक राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता और अन्य दलों के साथ मिलकर सरकार का गठन करता है। यह अध्ययन–पत्र गठबंधन सरकारों के सरकारी तंत्र–विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही तथा न्यायपालिका पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि गठबंधन सरकारें किस प्रकार लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को सुदृढ़ करती हैं तथा किन परिस्थितियों में राजनीतिक अस्थिरता का कारण बनती हैं। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गठबंधन सरकारें समावेशी शासन, संघीय संतुलन और शक्ति के विकेंद्रीकरण को बढ़ावा देती हैं, किंतु वैचारिक मतभेद, निर्णय–निर्माण में विलंब और समर्थन वापसी जैसी समस्याएँ सरकारी तंत्र की कार्यक्षमता को प्रभावित कर सकती हैं।

मूल शब्द– गठबंधन सरकार, राजनीतिक अस्थिरता, सरकारी तंत्र, विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही, संघवाद, नीति–निर्माण, लोकतंत्र, शक्ति–विकेंद्रीकरण।

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जिसकी राजनीतिक व्यवस्था बहुदलीय प्रणाली पर आधारित है। भारतीय समाज की विविधताकृभाषाई, धार्मिक, सांस्कृतिक और क्षेत्रीयकृराजनीतिक दलों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। स्वतंत्रता के पश्चात लगभग तीन दशकों तक केंद्र में एक–दलीय प्रभुत्व रहा, विशेष रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का। किंतु 1967 के बाद राज्यों में और 1989 के बाद केंद्र में राजनीतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिला।

1989 में जनता दल के नेतृत्व में बनी सरकार ने गठबंधन राजनीति के एक नए युग की शुरुआत की। इसके पश्चात 1990 के दशक में कई अल्पमत और गठबंधन सरकारें बनीं। 1998 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) और 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) जैसे स्थिर गठबंधनों ने यह सिद्ध किया कि गठबंधन सरकारें भी प्रभावी शासन प्रदान कर सकती हैं।

गठबंधन सरकारें लोकतांत्रिक बहुलवाद का प्रतीक हैं। वे विभिन्न राजनीतिक दलों को एक साझा मंच पर लाती हैं, जिससे शासन अधिक प्रतिनिधिक और सहभागी बनता है। क्षेत्रीय दलों की भागीदारी से संघीय ढाँचे को मजबूती मिलती है तथा राज्यों की आवाज राष्ट्रीय स्तर पर सुनी जाती है। माथुर (2009) ने अपने अध्ययन में भारतीय केंद्र स्तर की गठबंधन सरकारों की संरचना एवं स्थायित्व के कारकों का विश्लेषण किया। अध्ययन में पाया कि साझा न्यूनतम कार्यक्रम की स्पष्टता और नेतृत्व की स्वीकार्यता गठबंधन की स्थिरता के लिए अत्यंत आवश्यक है। जिन गठबंधनों में वैचारिक सामंजस्य कम था, वहाँ अस्थिरता की संभावना अधिक देखी गई।[1]

हालांकि, गठबंधन सरकारों के साथ राजनीतिक अस्थिरता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। समर्थन वापसी, विचारधारात्मक मतभेद और सत्ता–साझेदारी के विवाद कई बार सरकार के पतन का कारण बने हैं। इससे सरकारी तंत्र–विशेषकर नीति–निर्माण और प्रशासनिक निरंतरता–प्रभावित होती है।

सरकारी तंत्र का सुचारु संचालन राजनीतिक स्थिरता पर निर्भर करता है। विधायिका में विधेयकों का पारित होना, कार्यपालिका द्वारा नीतियों का क्रियान्वयन, नौकरशाही की प्रशासनिक दक्षता और न्यायपालिका की संवैधानिक भूमिकाकृसभी पर गठबंधन राजनीति का प्रभाव पड़ता है।

* एम0 ए0, पी–एच0डी0, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob. No.: 9334390170, E-mail Id : drrajmanikumari@gmail.com

क. विधायिका– गठबंधन में प्रत्येक दल अपनी नीतियों और चुनावी वादों के अनुसार विधेयकों पर चर्चा करता है। इससे संसद में नीति–विवेचना और बहस की गुणवत्ता बढ़ती है। यह लोकतंत्र के लिए लाभकारी है, क्योंकि विभिन्न दृष्टिकोणों को शामिल कर निर्णय लिया जाता है। सहयोगी दल अक्सर अपने क्षेत्रीय या विचारधारात्मक हितों की रक्षा हेतु दबाव बनाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विधेयक में परिवर्तन या संशोधन आम हो जाते हैं। जब दलों के बीच वैचारिक मतभेद अधिक होते हैं, तो विधेयकों को पारित कराना कठिन हो सकता है। कुछ मामलों में लंबी बहस या विलंब नीति निर्माण की गति को प्रभावित कर सकती है। विधायिका में गठबंधन सरकार के दौरान व्यापक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित होता है। इससे जनता की विविध आवाजें कानून बनाने की प्रक्रिया में शामिल होती हैं।

ख. कार्यपालिका– ठबंधन सरकार में कार्यपालिका विशेष रूप से मंत्रिपरिषद के स्तर पर प्रभावित होती है। मंत्रिपरिषद में विभिन्न दलों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। इससे निर्णय केवल एक दल के नेतृत्व में नहीं होते, बल्कि सहयोगी दलों की सहमति से बनते हैं। यह निर्णयों को संतुलित और समावेशी बनाता है। मतभेद होने पर निर्णय प्रक्रिया धीमी हो सकती है। कभी–कभी महत्वपूर्ण फैसलों में विलंब या असहमति के कारण नेतृत्व संकट उत्पन्न हो सकता है। विभिन्न दलों को मंत्रालयों का वितरण करना पड़ता है। यह सत्ता–साझेदारी को दर्शाता है, लेकिन प्रशासनिक निर्णयों में दलगत प्राथमिकताओं का प्रभाव बढ़ा देता है। गठबंधन सरकार में नीति–निर्माण की स्थिरता भागीदार दलों की सहमति पर निर्भर करती है। यदि दलों के बीच विवाद बढ़े, तो लंबी अवधि की नीतियाँ बाधित हो सकती हैं।

ग. नौकरशाही– गठबंधन सरकार के दौरान नौकरशाही की कार्यप्रणाली पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। विभिन्न दलों के नीति दृष्टिकोणों के कारण प्रशासनिक निर्णय अधिक विचारशील और संतुलित हो सकते हैं। नौकरशाही विभिन्न हितों के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करती है। बार–बार मंत्रियों का परिवर्तन या समर्थन संकट प्रशासनिक निरंतरता को प्रभावित करता है। इससे योजना क्रियान्वयन में बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। गठबंधन सरकार के चलते नौकरशाही को कई दृष्टिकोणों का प्रबंधन करना पड़ता है। यह लचीलापन नौकरशाही की कार्यकुशलता को चुनौतीपूर्ण बनाता है, लेकिन लोकतंत्र में उत्तरदायित्व भी बढ़ाता है।

घ. न्यायपालिका– गठबंधन सरकार की राजनीतिक अस्थिरता न्यायपालिका की भूमिका को प्रभावित करती है। जब सरकार बहुमत खो देती है या संवैधानिक संकट उत्पन्न होता है, तब न्यायपालिका अधिक सक्रिय हो जाती है। यह सुनिश्चित करती है कि संवैधानिक ढांचा सुरक्षित रहे। राजनीतिक विवाद या विश्वास मत से संबंधित संकट में न्यायपालिका अक्सर निर्णायक बनती है। उदाहरण स्वरूप, मंत्रिपरिषद का पुनर्गठन या सरकार गिरने की स्थिति में न्यायालय ही अंतिम न्यायिक प्राधिकरण के रूप में कार्य करता है। गठबंधन सरकारों में अस्थिरता के बावजूद न्यायपालिका लोकतंत्र की मूल संरचना को बनाए रखने का महत्वपूर्ण स्तंभ होती है।

गठबंधन राजनीति और राजनीतिक अस्थिरता पर अनेक विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किए। इन अध्ययनों में गठबंधन सरकारों की संरचना, कार्यप्रणाली, स्थिरता, नीति–निर्माण प्रक्रिया तथा सरकारी तंत्र पर उनके प्रभाव का विश्लेषण किया गया। गठबंधन सरकारें भारतीय राजनीति में स्थायी रूप से स्थापित हो चुकी थीं। इस अवधि के अधिकांश अध्ययनों ने यह निष्कर्ष निकाला कि गठबंधन सरकारों की सफलता साझा कार्यक्रम, प्रभावी नेतृत्व, वैचारिक सामंजस्य और समन्वय तंत्र पर निर्भर करती है। जहाँ ये तत्व मजबूत रहे, वहाँ गठबंधन सरकारें स्थिर और प्रभावी सिद्ध हुईं, अन्यथा राजनीतिक अस्थिरता और प्रशासनिक चुनौतियाँ उभरकर सामने आईं। शर्मा (2008) ने गठबंधन सरकारों और नीति–निर्माण प्रक्रिया के संबंध का अध्ययन किया। अध्ययन में पाया कि बहुदलीय सहभागिता के कारण निर्णय–निर्माण प्रक्रिया अधिक विचारशील और सहभागी बनती है, किंतु सहमति बनाने में अधिक समय लगने से नीतियों के क्रियान्वयन में विलंब हो सकता है।[2]

वर्मा (2010) ने राज्य स्तर की गठबंधन सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। अध्ययन में पाया कि जिन राज्यों में गठबंधन पूर्व–निर्वाचन समझौते पर आधारित थे, वे अपेक्षाकृत अधिक स्थिर रहे, जबकि पश्च–निर्वाचन गठबंधन अवसरवादी समझौतों के कारण अधिक अस्थिर सिद्ध हुए।[3] इस प्रकार अधिकांश शोधों में गठबंधन सरकारों की स्थिरता, साझा न्यूनतम कार्यक्रम, क्षेत्रीय दलों की भूमिका, तथा नीति–निर्माण प्रक्रिया पर प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

क. सरकारी तंत्र पर समग्र संस्थागत विश्लेषण का अभाव– अधिकांश अध्ययनों ने राजनीतिक स्थिरता और नीति–निर्माण तक अपने विश्लेषण को सीमित रखा है। विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही और न्यायपालिका–इन सभी अंगों पर गठबंधन सरकारों के संयुक्त और तुलनात्मक प्रभाव का समग्र अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है।

ख. मात्रात्मक विश्लेषण की कमी– बहुत से अध्ययन वर्णनात्मक और सैद्धांतिक रहे हैं। गठबंधन सरकारों के दौरान नीति–निर्माण की गति, विधेयकों की संख्या, प्रशासनिक निर्णयों की निरंतरता आदि का तुलनात्मक सांख्यिकीय विश्लेषण सीमित रूप से उपलब्ध है।

ग . राज्य और केंद्र स्तर के तुलनात्मक अध्ययन का अभाव– हालांकि कुछ अध्ययनों में राज्यों का उल्लेख मिलता है, परंतु केंद्र और विभिन्न राज्यों की गठबंधन सरकारों का तुलनात्मक एवं दीर्घकालिक विश्लेषण कम किया गया है। विशेष रूप से विविध राजनीतिक संस्कृतियों वाले राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

घ. दीर्घकालिक प्रशासनिक प्रभावों पर सीमित अध्ययन– गठबंधन सरकारों के कारण प्रशासनिक संरचना, नीति–निरंतरता और नौकरशाही की कार्यसंस्कृति पर दीर्घकालिक प्रभावों का गहन अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है।

ड. लोकतांत्रिक गुणवत्ता पर प्रभाव– गठबंधन सरकारों का लोकतंत्र की गुणवत्ता–जैसे पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, जनसहभागिताकृपर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर समग्र विश्लेषण सीमित है।

च. राजनीतिक संस्कृति और नेतृत्व की भूमिका– गठबंधन की सफलता में नेतृत्व शैली, राजनीतिक परिपक्वता और दलों के बीच विश्वास की भूमिका महत्वपूर्ण है, किंतु इस आयाम पर व्यवस्थित अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है।

उद्देश्य–

1. गठबंधन सरकारें सरकारी तंत्र पर किस प्रकार सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव डालती हैं।
2. गठबंधन सरकार किन परिस्थितियों में गठबंधन सरकारें स्थिर और प्रभावी सिद्ध हैं।
3. गठबंधन सरकारों और सरकारी तंत्र के संबंध में एक समग्र, तुलनात्मक और संस्थागत अध्ययन करना है।

अध्ययन पद्धति–

यह अध्ययन मुख्यतः गुणात्मक अध्ययन पद्धति पर आधारित है। गुणात्मक अध्ययन पद्धति सामाजिक एवं राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति, संरचना और प्रभाव को गहराई से समझने में सहायक होती है। चूँकि गठबंधन सरकारें केवल संख्यात्मक बहुमत का प्रश्न नहीं हैं, बल्कि वैचारिक समन्वय, नेतृत्व, संस्थागत व्यवहार और प्रशासनिक प्रक्रियाओं से भी जुड़ी होती हैं, इसलिए इस विषय के अध्ययन हेतु गुणात्मक दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त माना गया है।

यह अध्ययन विश्लेषणात्मक, वर्णनात्मक तथा तुलनात्मक प्रकृति का है, जिसमें ऐतिहासिक और समकालीन दोनों आयामों को सम्मिलित किया गया है।

स्रोत–

(1) द्वितीयक स्रोत– इस अध्ययन में मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है, जिनमें शामिल हैं। जिसमें राजनीतिक विज्ञान की पुस्तकों, शोध–पत्र, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय जर्नल लेख, विश्वविद्यालयों के शोध–प्रबंध और सरकारी रिपोर्ट एवं संसदीय दस्तावेजों को शामिल किया गया है। इन स्रोतों के माध्यम से गठबंधन राजनीति के सैद्धांतिक आधार, ऐतिहासिक विकास और प्रशासनिक प्रभावों को समझने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन में 1977 से लेकर वर्तमान तक केंद्र और विभिन्न राज्यों की गठबंधन सरकारों के उदाहरणों का विश्लेषण किया गया है। विशेष रूप से जनता पार्टी सरकार (1977), एनडीए सरकार (1998, 2014), यूपीए सरकार (2004, 2009) और राज्य स्तर पर बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि को सम्मलीत किया गया है। साथ ही यह समझने का प्रयास किया गया है कि गठबंधन सरकारें व्यवहार में किस प्रकार कार्य करती हैं और उनका सरकारी तंत्र पर क्या प्रभाव पड़ता है।

अध्ययन विधि– इस पद्धति के अंतर्गत एक–दलीय और गठबंधन सरकारों की तुलना की गई है। इसकी तुलना राजनीतिक स्थिरता, निर्णय–निर्माण की गति, नीति–निरंतरता, प्रशासनिक प्रभावशीलता, विधायी उत्पादकता के आधारों पर की गई। तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों व्यवस्थाओं की अपनी–अपनी शक्तियाँ और सीमाएँ हैं। इस विधि के माध्यम से गठबंधन सरकारों की संरचना, कार्यप्रणाली

और व्यवहारिक चुनौतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें राजनीतिक घटनाओं और प्रशासनिक प्रक्रियाओं का तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण किया गया है।

परिणाम–

सरकारी तंत्र विश्लेषण – गठबंधन सरकार वह शासन व्यवस्था है जिसमें दो या दो से अधिक राजनीतिक दल मिलकर सत्ता का गठन करते हैं। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब किसी एक राजनीतिक दल को विधानमंडल में पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता।

गठबंधन सरकारें बहुदलीय लोकतंत्र की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। यह व्यवस्था राजनीतिक बहुलवाद को दर्शाती है, जहाँ विभिन्न विचारधाराएँ और हित समूह सत्ता–साझेदारी के माध्यम से शासन में भाग लेते हैं। इसमें गठबंधन की सफलता निम्न कारकों पर निर्भर करती है। जेसे –वैचारिक सामंजस्य, साझा न्यूनतम कार्यक्रम, नेतृत्व की स्वीकार्यता, दलों के बीच विश्वास और प्रभावी समन्वय तंत्र आदि हैं। यदि इन तत्वों में संतुलन बना रहता है, तो गठबंधन सरकारें स्थिर और प्रभावी सिद्ध हो सकती हैं। अन्यथा, समर्थन वापसी और आंतरिक मतभेद से राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है।

गठबंधन सरकार के सैद्धांतिक आधार– गठबंधन सरकार आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, विशेषकर उन देशों में जहाँ बहुदलीय प्रणाली प्रचलित है। जब किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता, तब दो या दो से अधिक दल मिलकर सरकार का गठन करते हैं। यह केवल राजनीतिक आवश्यकता नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक विविधता की अभिव्यक्ति भी है। सिंह (2012) ने क्षेत्रीय दलों की भूमिका का विश्लेषण किया। अध्ययन में पाया कि क्षेत्रीय दलों की भागीदारी से लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व व्यापक हुआ और संघीय ढांचे को मजबूती मिली, किंतु अत्यधिक दबाव की स्थिति में राष्ट्रीय नीतियाँ प्रभावित हो सकती हैं।[4] गठबंधन सरकारों की प्रकृति, गठन और स्थायित्व को समझने के लिए विभिन्न राजनीतिक सिद्धांतकारों ने अनेक सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत किए हैं।

क. न्यूनतम विजयी गठबंधन सिद्धांत– यह सिद्धांत विलियम राइकर द्वारा प्रतिपादित किया गया था। उनके अनुसार राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति के उद्देश्य से ऐसे गठबंधन का निर्माण करते हैं, जिसमें बहुमत के लिए आवश्यक न्यूनतम दल शामिल हों। अर्थात् दल अनावश्यक रूप से अधिक साझेदारों को शामिल नहीं करना चाहते, क्योंकि इससे सत्ता और संसाधनों का बँटवारा अधिक जटिल हो जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार गठबंधन का मुख्य उद्देश्य नीति–निर्माण नहीं, बल्कि सत्ता प्राप्त करना है। अतः यह सिद्धांत गठबंधन राजनीति को शक्ति–संतुलन और तर्कसंगत विकल्प के दृष्टिकोण से समझता है।

ख. तर्कसंगत चयन सिद्धांत– तर्कसंगत चयन सिद्धांत के अनुसार राजनीतिक दल अपने हितों को अधिकतम करने के लिए निर्णय लेते हैं। गठबंधन बनाना या न बनाना दलों के लाभ–हानि के आकलन पर निर्भर करता है। यदि गठबंधन से सत्ता में भागीदारी संभव है, तो दल वैचारिक मतभेदों के बावजूद समझौता कर सकते हैं। यह सिद्धांत मानता है कि दलों का व्यवहार गणनात्मक होता है और वे अपने राजनीतिक लाभ को प्राथमिकता देते हैं। कुमार (2013) ने गठबंधन राजनीति और प्रशासनिक तंत्र के संबंध का अध्ययन किया। अध्ययन में पाया कि बार–बार मंत्री परिवर्तन और समर्थन संकट से नौकरशाही में अनिश्चितता उत्पन्न होती है, जिससे प्रशासनिक दक्षता प्रभावित होती है।[5] भारतीय संदर्भ में कई पश्च–निर्वाचन गठबंधन इसी दृष्टिकोण से समझे जा सकते हैं।

ग. नीति–आधारित गठबंधन सिद्धांत– नीति–आधारित गठबंधन सिद्धांत बताता है कि राजनीतिक दल केवल सत्ता प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि अपनी नीतियों और विचारधाराओं को लागू करने के उद्देश्य से भी गठबंधन बनाते हैं। जब दो या अधिक दलों के नीति–उद्देश्य समान होते हैं, तो वे साझा कार्यक्रम के आधार पर गठबंधन करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार वैचारिक सामंजस्य गठबंधन की स्थिरता का प्रमुख आधार होता है। पूर्व–निर्वाचन गठबंधन प्रायः इसी आधार पर निर्मित होते हैं।

घ. कार्यालय–लाभ सिद्धांत– इस सिद्धांत के अनुसार दलों का प्रमुख उद्देश्य सत्ता के पदों (मंत्रालय, कैबिनेट पद आदि) पर अधिकार प्राप्त करना होता है। गठबंधन सरकारों में मंत्रालयों का वितरण दलों की शक्ति और सीटों की संख्या के अनुसार किया जाता है। यह सिद्धांत गठबंधन को पद–लाभ की राजनीति के रूप में देखता है, जहाँ नीति से अधिक महत्व सत्ता–साझेदारी को दिया जाता है। अरोड़ा एवं कैलाश (2014) ने संघीय राजनीति के संदर्भ में गठबंधन सरकारों का विश्लेषण किया। अध्ययन में पाया कि गठबंधन व्यवस्था ने केंद्रदृराज्य संबंधों को अधिक संतुलित बनाया और राज्यों की भागीदारी को सशक्त किया।[6]

ड. सामाजिक विविधता सिद्धांत– यह सिद्धांत बताता है कि जिन समाजों में सामाजिक, भाषाई, धार्मिक और क्षेत्रीय विविधता अधिक होती है, वहाँ बहुदलीय प्रणाली और गठबंधन सरकारें स्वाभाविक रूप से विकसित होती हैं। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में क्षेत्रीय दलों का उभार और गठबंधन राजनीति इसी सिद्धांत से समझा जा सकता है। गुप्ता (2015) ने गठबंधन सरकारों और लोकतांत्रिक सुदृढ़ता पर अध्ययन किया। अध्ययन में पाया कि गठबंधन सरकारें लोकतंत्र को अधिक सहभागी और प्रतिनिधिक बनाती हैं, बशर्ते दलों के बीच समन्वय और विश्वास बना रहे।[7] यह दृष्टिकोण गठबंधन को लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक समावेशन का माध्यम मानता है।

च. संघवाद और सहमति लोकतंत्र– अरेन्ड लिजफार्ट के सहमति लोकतंत्र सिद्धांत के अनुसार विविध समाजों में शक्ति–साझेदारी आवश्यक होती है। गठबंधन सरकारें सहमति आधारित निर्णय–प्रक्रिया को बढ़ावा देती हैं और बहुसंख्यकवादी शासन के स्थान पर समावेशी शासन प्रदान करती हैं। संघीय व्यवस्थाओं में गठबंधन सरकारें केंद्र और राज्यों के बीच संतुलन स्थापित करने में सहायक होती हैं।

चर्चा– स्पष्ट है कि संस्थागत विश्लेषण के अंतर्गत सरकारी तंत्र के विभिन्न अंगों–विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही और न्यायपालिका पर गठबंधन सरकारों के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। यह देखा गया है कि गठबंधन व्यवस्था में इन संस्थाओं की भूमिका और कार्यप्रणाली किस प्रकार परिवर्तित होती है। सरकारी तंत्र के अंगों पर प्रभाव–गठबंधन सरकारें भारतीय लोकतंत्र का अभिन्न हिस्सा हैं। इन सरकारों में विभिन्न दलों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं, जिनकी विचारधारा, प्राथमिकताएँ और क्षेत्रीय हित भिन्न हो सकते हैं। यह विविधता सरकारी तंत्र के विभिन्न अंगों–विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही और न्यायपालिका पर विशेष प्रभाव डालती है। कुल मिलाकर हम कह सकतें हैं कि गठबंधन सरकारों के सैद्धांतिक आधार यह स्पष्ट करते हैं कि उनका गठन केवल राजनीतिक मजबूरी नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संरचना, सामाजिक विविधता और शक्ति–संतुलन का परिणाम है। कुछ सिद्धांत गठबंधन को सत्ता–प्राप्ति की रणनीति के रूप में देखते हैं, जबकि अन्य इसे नीति–आधारित सहयोग और सामाजिक प्रतिनिधित्व का माध्यम मानते हैं। भारतीय संदर्भ में गठबंधन सरकारों को समझने के लिए इन सभी सैद्धांतिक दृष्टिकोणों का समन्वित अध्ययन आवश्यक है। यही अध्ययन हमें यह समझने में सहायता करता है कि गठबंधन राजनीति लोकतंत्र को कैसे प्रभावित करती है और उसकी स्थिरता किन कारकों पर निर्भर करती है।

सुझाव–

गठबंधन सरकारें भारतीय लोकतंत्र की जटिल वास्तविकताओं को दर्शाती हैं। ये सरकारें विविध राजनीतिक दलों, विचारधाराओं और क्षेत्रीय हितों का समन्वय करती हैं, जिससे सरकारी तंत्र पर कई आयामों में प्रभाव पड़ता है।

क. विधायिका– गठबंधन सरकार में विधेयकों पर व्यापक चर्चा होती है। विपक्ष और सहयोगी दल दोनों सक्रिय भूमिका निभाते हैं। हालांकि, मतभेदों के कारण विधेयकों के पारित होने में कठिनाई हो सकती है।

ख. कार्यपालिका– मंत्रिपरिषद में विभिन्न दलों के प्रतिनिधि होते हैं। इससे निर्णय सामूहिक रूप से लिए जाते हैं। परंतु मतभेद होने पर नेतृत्व संकट उत्पन्न हो सकता है।

ग. नौकरशाही– नीति–निर्माण में विविध दृष्टिकोणों के कारण प्रशासन अधिक संतुलित हो सकता है। किंतु बार–बार मंत्री परिवर्तन से प्रशासनिक निरंतरता प्रभावित हो सकती है।

घ. न्यायपालिका– राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में न्यायपालिका की सक्रियता बढ़ सकती है। संवैधानिक संकट में न्यायपालिका निर्णायक भूमिका निभाती है।

गठबंधन सरकारें सरकारी तंत्र के लिए सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करती हैं। सकारात्मक पहलू में लोकतांत्रिक बहस, नीति में संतुलन और समावेशिता शामिल हैं। नकारात्मक पहलू में निर्णय प्रक्रिया में विलंब, प्रशासनिक निरंतरता में बाधाएँ और नेतृत्व संकट आते हैं। अतः गठबंधन सरकारें चुनौती और अवसर दोनों प्रस्तुत करती हैं, और इनकी स्थिरता एवं प्रभावशीलता सहयोगी दलों के आपसी विश्वास, संवाद और सामूहिक हितों पर निर्भर करती है।

संदर्भ सूची

1. अरोड़ा, बी., एवं कैलाश, के. के. (2014). "संघीय राजनीति और गठबंधन सरकारेंरू एक विश्लेषण" पब्लियस– जर्नल ऑफ फेडरलिज्म, 44(2), 210–228।
2. गुप्ता, आर. (2015) भारतीय लोकतंत्र और गठबंधन राजनीति, नई दिल्ली– ओरिएंट ब्लैकस्वान.

3. कुमार, एस. (2013). "गठबंधन सरकार और प्रशासनिक तंत्रः चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ." भारतीय लोक प्रशासन पत्रिका, 59(3), 145–162।
4. माथुर, ए. (2009) "भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकारों का स्थायित्व– एक अध्ययन." समकालीन राजनीति समीक्षा, 15(2), 78–96।
5. शर्मा, एम. (2008) गठबंधन सरकारें और नीति–निर्माण प्रक्रिया' जयपुर, रावत पब्लिकेशंस.
6. सिंह, आर. (2012). "क्षेत्रीय दलों की भूमिका और राष्ट्रीय गठबंधन राजनीति" इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 73(4), 525–540।
7. वर्मा, पी. (2010). "राज्य स्तर पर गठबंधन सरकारों की स्थिरता का तुलनात्मक अध्ययन." इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 45(18), 67–74।

यहूदी धर्म में ईश्वर की अवधारणा : एक दार्शनिक अध्ययन

अमित कुमार*

शोध–सार :

प्रस्तुत अध्ययन ''यहूदी धर्म में ईश्वर की अवधारणा : एक दार्शनिक अध्ययन' का अध्ययन है। यहूदी धर्म विश्व की प्राचीनतम एकेश्वरवादी परम्पराओं में से एक है। इसकी धार्मिक चेतना का केन्द्र ईश्वर की एकत्व, नैतिकता, न्याय और वाचा पर आधारित धारणा है। यह अध्ययन यहूदी धर्मग्रंथों, रब्बी परम्पराओं, मध्यकालीन दार्शनिक व्याख्याओं तथा आधुनिक चिंतन के आधार पर ईश्वर की अवधारणा का दार्शनिक परीक्षण करता है। इसमें ईश्वर की प्रकृति, गुण, मनुष्य के साथ उसके संबंध, इतिहास में उसकी भूमिका तथा नैतिक अपेक्षाओं का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य यह दिखाना है कि यहूदी ईश्वर की धारणा केवल धार्मिक आस्था नहीं, बल्कि एक सुसंगत दार्शनिक प्रतिमान भी प्रस्तुत करती है, जो अस्तित्व, ज्ञान और मूल्य के प्रश्नों से गहराई से जुड़ी है।

कुंजिकाः यहूदी धर्म, ईश्वर, एकेश्वरवाद, वाचा, दैवी प्रकाशन, बाइबिल, दया और न्याय, धार्मिक अनुभव, इत्यादि ।

प्रस्तावना : मानव सभ्यता के धार्मिक इतिहास में यहूदी परम्परा का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहीं से संगठित और सुस्पष्ट एकेश्वरवाद की वह धारा विकसित होती है जिसने आगे चलकर अनेक वैश्विक धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियों को प्रभावित किया। यहूदी चिंतन में ईश्वर केवल पूजा का विषय नहीं, बल्कि अस्तित्व, इतिहास, नैतिकता और सामुदायिक जीवन का मूलाधार है। इस दृष्टि से ईश्वर की अवधारणा किसी एक आध्यात्मिक अनुभूति का परिणाम नहीं, बल्कि दीर्घ ऐतिहासिक अनुभव, दैवी प्रकाशन, विधि–व्यवस्था और व्याख्यात्मक परम्पराओं का समन्वित रूप है।

यहूदी आस्था की केन्द्रीय घोषणा, जिसे शेमा कहा जाता है, तोरा में व्यक्त होती है। इसमें ईश्वर की पूर्ण एकता, विशिष्टता और सार्वभौमिक प्रभुता को रेखांकित किया गया है। यह उदघोष केवल धर्मशास्त्रीय वाक्य नहीं बल्कि दार्शनिक प्रतिज्ञापन है, जो यह बताता है कि समस्त अस्तित्व का अंतिम आधार एक ही है। बहुदेववादी या द्वैतवादी व्याख्याओं के विपरीत, यहाँ सृष्टि, नैतिक नियम और इतिहास एक ही परम स्रोत से सम्बद्ध हैं।

दार्शनिक रूप से विचार करें तो यहूदी धर्म में ईश्वर की धारणा दो महत्वपूर्ण ध्रुवों के बीच गतिशील रहती है– पारलौकिकता और सन्निकटता। एक ओर ईश्वर को असीम, निराकार और मानवीय बोध से परे माना गया है, दूसरी ओर वही ईश्वर इतिहास में हस्तक्षेप करता है, भविष्यवक्ताओं से संवाद करता है और अपने लोगों के साथ वाचा स्थापित करता है। इस द्वंद्वात्मक एकता ने यहूदी धर्मदर्शन को विशिष्ट गहराई प्रदान की है।

ईश्वर और मानव के संबंध को समझने में हिब्रू बाइबिल की कथाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ ईश्वर केवल सृष्टिकर्ता नहीं बल्कि मार्गदर्शक, न्यायाधीश, उद्धारकर्ता और प्रेमपूर्ण संरक्षक के रूप में उपस्थित है। इस बहुआयामी चित्रण ने दार्शनिकों को प्रेरित किया कि वे यह विचार करें क्या ईश्वर को व्यक्तित्व के रूप में समझना चाहिए? यदि हाँ, तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता और अपरिवर्तनीयता का क्या अर्थ होगा? यदि नहीं, तो प्रार्थना, आज्ञा और दया जैसे विचारों को कैसे समझा जाए?

मध्यकालीन यहूदी चिंतकों, विशेषकर मैमोनिडीज, ने इन प्रश्नों को तर्क और आस्था के समन्वय से सुलझाने का प्रयास किया। उन्होंने ईश्वर की निरपेक्षता को सुरक्षित रखते हुए यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य की भाषा प्रतीकात्मक और सीमित है। आधुनिक काल में मार्टिन बूबर जैसे विचारकों ने ईश्वर को संबंधात्मक अनुभव के रूप में व्याख्यायित किया, जहाँ आस्था एक जीवंत संवाद बन जाती है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म में ईश्वर की अवधारणा स्थिर नहीं हैय वह निरंतर व्याख्या, पुनर्पाठ और ऐतिहासिक अनुभवों से गुजरती हुई विकसित होती रही है। दासत्व, निर्वासन, मंदिर–विनाश और आधुनिक त्रासदियों ने इस विचार को चुनौती भी दी और गहरा भी बनाया। परिणामस्वरूप ईश्वर की समझ अधिक सूक्ष्म, अधिक आत्म–आलोचनात्मक और अधिक दार्शनिक होती गई।

* शोध छात्र, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार
E-mail: amitkum6914@gmail.com, Mob. : 8789984673

यह शोध–लेख इसी विकास–क्रम को ध्यान में रखते हुए यह समझने का प्रयास करता है कि यहूदी परम्परा ईश्वर को किस प्रकार परिभाषित करती है, उसके गुणों को कैसे समझती है, और मानव जीवन में उसकी क्या भूमिका निर्धारित करती है। साथ ही, यह अध्ययन इस प्रश्न की भी पड़ताल करता है कि क्या यह अवधारणा आधुनिक दार्शनिक विमर्श जैसे भाषा की सीमाएँ, नैतिक स्वायत्तता, और इतिहास में अर्थ की खोज के साथ संवाद स्थापित कर सकती है।

एकेश्वरवाद का दार्शनिक आशय : यहूदी धर्म का सबसे विशिष्ट तत्व कठोर एकेश्वरवाद है। ईश्वर न तो विभाजित है, न किसी अन्य शक्ति के साथ साझा करता है। यह एकत्व केवल संख्या का प्रश्न नहीं बल्कि अस्तित्वगत है– सम्पूर्ण सत्ता उसी पर निर्भर है। दार्शनिक रूप से यह विचार बहुदेववाद और द्वैतवाद दोनों का खंडन करता है। बुराई की समस्या भी इसी संदर्भ में महत्वपूर्ण बनती हैरू यदि ईश्वर एक और सर्वशक्तिमान है, तो बुराई क्यों है? यहूदी चिंतन में इसका उत्तर मानव की स्वतंत्र इच्छा और नैतिक जिम्मेदारी से जोड़ा गया है।

ईश्वर के गुण– दया, न्याय और पवित्रता : धर्मग्रंथों में ईश्वर को दयालु और न्यायकारी दोनों कहा गया है। पहली दृष्टि में ये विरोधाभासी प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु यहूदी दार्शनिकों ने इन्हें पूरक माना। न्याय व्यवस्था को स्थिर रखता है, जबकि दया मानव को पुनर्स्थापन का अवसर देती है। ईश्वर की पवित्रता उसे संसार से भिन्न बनाती है, परंतु वही पवित्रता मनुष्य को नैतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है– "तुम पवित्र बनो, क्योंकि मैं पवित्र हूँ।"

मध्यकालीन दार्शनिक व्याख्या : मध्यकाल में मैमोनिडीज ने ईश्वर की निराकार और निरपेक्ष धारणा को तर्कसंगत आधार दिया। उनकी 'नकारात्मक धर्ममीमांसा' के अनुसार हम ईश्वर के बारे में यह तो कह सकते हैं कि वह क्या नहीं है, पर यह नहीं कि वह क्या है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर को मानवीय सीमाओं से मुक्त रखा गया और उसकी पूर्णता सुरक्षित रहती है।

रहस्यवाद और ईश्वर : जोहर जैसी कृतियों में ईश्वर को असीम कहा गया है, जो विभिन्न दिव्य प्रकाशनों के माध्यम से जगत में अभिव्यक्त होता है। यहाँ दार्शनिक विश्लेषण प्रतीकात्मक भाषा में बदल जाता है, पर लक्ष्य वही है पारलौकिक और लौकिक के संबंध को समझना।

आधुनिक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य : आधुनिक युग में यहूदी चिंतकों ने ईश्वर की अवधारणा को इतिहास और मानवीय पीड़ा के संदर्भ में पुनर्विचार किया। मार्टिन बूबर ने 'मैंदृतू' संबंध के माध्यम से ईश्वर को जीवंत संवाद का केंद्र माना। ईश्वर कोई दूरस्थ सत्ता नहीं, बल्कि संबोधन और उत्तर का अनुभव है। होलोकॉस्ट जैसी त्रासदियों ने ईश्वर की न्यायशीलता पर गंभीर प्रश्न उठाए, फिर भी आस्था का आधार पूरी तरह समाप्त नहीं हुआय बल्कि वह अधिक जटिल और आत्म–चिंतनशील बन गया।

साहित्य समीक्षा

गैर्ब, जोनाथन (2024), यह अध्ययन पारंपरिक यहूदी ईश्वर की अवधारणा को चुनौती देता है और प्रश्न उठाता है कि क्या परमेश्वर संदेह कर सकता है जबकि वह सत्य का स्रोत है। यह आधुनिक यहूदी दार्शनिक विमर्श में ईश्वर की निश्चितता और ज्ञान के पारंपरिक स्वरूप की पुन : समीक्षा करता है, जिससे पारंपरिक एकेश्वरवादी दृष्टिकोण का दार्शनिक परीक्षण संभव होता है।[1]

नोवाक, डेविड (2024), नोवाक का यह लेख "ईश्वर–बात" की वैचारिक परंपरा का परिचय प्रदान करता है जिसमें ईश्वर और मनुष्य के बीच संप्रेषण – दैवी प्रकाशन, प्रार्थना और वाचा की भाषा के दार्शनिक आधार की व्याख्या है। यह यहूदी परमेश्वर की अभिव्यक्ति के तरीकों पर विचार करने के लिए एक मौलिक फ्रेमवर्क प्रस्तुत करता है ।[2]

गेलमैन, जेरोम (2024), गेलमैन का शोध यहूदी परंपरा में दो प्रकार की दैवी व्यक्तित्व की पहचान करता है– एक न्यायकारी और दूसरा दयालु तथा इस द्वैत को यहूदी दर्शन में कैसे संतुलित किया गया है उसकी विवेचना करता है। इस कार्य में प्राचीन से आधुनिक तक यहूदी चिंतन में ईश्वर की भूमिका पर व्यापक विश्लेषण मिलता है।[3]

ड्रेफ, एरिक (2019), यह लेख आधुनिकता के संदर्भ में यहूदी विचारकों कृ जैसे स्पिनोजा, मेंडेल्सन, रोसेनजवाइग और बुबर के माध्यम से "ईश्वर के प्रेम" की अवधारणा की निरंतरता पर केंद्रित है। यह दर्शाता है कि प्रेम–आधारित दृष्टिकोण यहूदी ईश्वर की परंपरागत अवधारणा को आधुनिक चुनौती का उत्तर देता है।[4]

फिशर, कैस (2019), फिशर का शोध यहूदी धर्म की आधुनिक व्याख्याओं में 'ईश्वर के बिना धर्म' जैसे विचारों की समीक्षा करता है। यह विचारधारा यहूदी परंपरा में पारंपरिक विश्वास और आधुनिक दार्शनिक प्रश्नों के बीच टकराव को उजागर करती है।[5]

गेलमैन, जेरोम यहूदा (2019), यह ग्रन्थ यहूदी दर्शन में परम–कृपा और ईश्वर की शुद्ध–भलाई पर केंद्रित है। यह समकालीन यहूदी दार्शनिक विमर्श में ईश्वर की नैतिकता और परम्परा को रक्षा–परक दृष्टिकोण से व्याख्यायित करता है।[6]

बाउकर, जॉन (1978), बाउकर का अध्याय यहूदी धर्म में ईश्वर की अनुभूति और ऐतिहासिक अनुभव की प्रासंगिकता पर केंद्रित है। यह ग्रन्थ यहूदी धर्म के ऐतिहासिक रूपांतरणों तथा ईश्वर–अभिव्यक्ति पर गहन थीमेटिक विवेचना पेश करता है।[7]

उद्देश्य

1. यहूदी धर्म में ईश्वर की एकेश्वरवादी धारणा के स्वरूप और उसके दार्शनिक आधार का विश्लेषण करना।
2. तोरा तथा हिब्रू बाइबिल में वर्णित ईश्वर के गुणों, कार्यों और मानव के साथ उसके संबंध का परीक्षण करना।
3. वाचा, दैवी प्रकाशन और चुने हुए समुदाय की अवधारणाओं के माध्यम से ईश्वर–मानव संबंध की प्रकृति को स्पष्ट करना।
4. मध्यकालीन यहूदी दार्शनिकों, विशेषकर मैमोनिडीज, द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की निराकारता और नकारात्मक धर्ममीमांसा का दार्शनिक मूल्यांकन करना।
5. आधुनिक यहूदी चिंतन में, विशेष रूप से मार्टिन बूबर के संबंधवादी दृष्टिकोण के संदर्भ में, ईश्वर की अवधारणा के पुनर्पाठ को समझना।

निष्कर्ष

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यहूदी ईश्वर का विचार मनुष्य को निष्क्रिय श्रद्धालु नहीं, बल्कि नैतिक सहभागी बनाता है। ईश्वर और मानव के बीच का संबंध संवाद, कर्तव्य और आशा से निर्मित है। यही संवादात्मकता इस अवधारणा को आज भी प्रासंगिक, प्रेरक और दार्शनिक रूप से शक्तिशाली बनाती है। आधुनिक युग में, जब इतिहास ने अभूतपूर्व पीड़ाएँ प्रस्तुत कीं, तब ईश्वर की अवधारणा पर नए प्रश्न उठे। फिर भी मार्टिन बूबर जैसे चिंतकों ने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर को संबंध और संवाद में अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार आस्था निरर्थक नहीं होती, बल्कि अधिक मानवीय और उत्तरदायी बनती है।

अतः कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म में ईश्वर की अवधारणा एक जीवंत परम्परा है, जो बदलती परिस्थितियों में भी अपनी मूल प्रतिबद्धता एकत्व, न्याय, दया और उत्तरदायित्व को बनाए रखती है। यही कारण है कि यह अवधारणा केवल धार्मिक पहचान का आधार नहीं, बल्कि दार्शनिक विमर्श के लिए भी अत्यंत उपजाऊ भूमि सिद्ध होती है।

सन्दर्भः –

1. गैर्ब, जोनाथन, (2024) क्या ईश्वर संदेह करता है? आर. गेर्शोन हेनोख लाइनेर का चिंतन। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस,
2. नोवाक, डेविड (2024), ईश्वर–विमर्श : एक परिचय। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, पृ0 53
3. गेलमैन, जेरोम (2024), यहूदी चिंतन में ईश्वर की समस्या। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, पृ0 37
4. ड्रेफ, एरिक, (2019), आधुनिकता के प्रति एक सुसंगत यहूदी प्रत्युत्तर के रूप में ईश्वर का प्रेम। एमडीपीआई प्रकाशन (रिलिजन्स जर्नल), पृ0 3
5. फिशर, कैस (2019), ईश्वर के बिना धर्म? आधुनिक और समकालीन यहूदी विचार में धर्मवैज्ञानिक संदर्भ के दृ ष्टिकोण। रूटलेज प्रकाशन, पृ0 93
6. गेलमैन, जेरोम यहूदा, (2019) पूर्ण भलाई और यहूदियों का ईश्वर रू एक समकालीन यहूदी धर्मशास्त्र। लिवराइट प्रकाशन, पृ0 17
7. बाउकर, जॉन, (1978) यहूदी धर्म : धार्मिक कल्पना और ईश्वर की अनुभूति। क्लेरेंडन प्रेस, पृ0 107

◀◀ ▶▶